विषय-सूची

श्रीगणेशाय नमः

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

भूमिका

साधन-संग्रहका वर्तमान तृतीय संस्करण एकत्र न छपकर इसके प्रकरण पृथक्-पृथक् भागमें छप रहे हैं। धर्म और कर्म-भाग 'धर्म-कर्म-रहस्य' नामसे इण्डियन-प्रेस, इलाहाबाद-द्वारा प्रकाशित हुआ। कीमत ।।।)। योग-भागके प्रथम दो प्रकरण कर्म-योग और अभ्यास-योग 'कर्माभ्यास-योग' नामसे तारा-प्रिन्टिङ्ग-प्रेस, बनारस सिटीद्वारा प्रकाशित हुआ। कीमत ।।।)। उसके बादका प्रकरण यह ज्ञानयोग प्रकाशित होता है।

लोगोंकी धारणा है कि कर्म-योग, अभ्यास-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग स्वतन्त्र मार्ग हैं, जिसके कारण इनका पृथक्-पृथक् मार्ग बतलाया जाता है किन्तु यह ठीक नहीं है। अभ्यास-योगको कर्म-योगके अन्तर्गत मान कर्म, ज्ञान और उपासना (भक्ति) ये तीन मार्ग आपसमें स्वतन्त्र न होकर यथार्थमें, एक मार्गके तीन पड़ाव अथवा एक स्थानके तीन

इस पुस्तकमें श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोकका भाव लिखकर मूल श्लोक-की जानकारीके लिये ब्रैकेटमें प्रथम अङ्क अध्यायसूचक और इसके बादका अङ्क श्लोक-संख्या-सूचक दिये गये हैं।

मंजिल अथवा ऊपर चढ़नेकी सीढ़ीके तीन पटरियोंके समान हैं जिसके कारण अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये तीनोंको तय करना पड़ेगा। परम कारण श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो सबोंका मुख्य लक्ष्य है तीनों योगोंके करनेकी आवश्यकता है। परमहंस श्रीरामकृष्णदेवजीका भी यही सिद्धान्त था कि तीनोंकी आवश्यकता है। किन्तु आजकल एक योगके अनुयायी दूसरे योगको तुच्छ और अनावश्यक समझते और केवल अपने योगको 'परो नास्ति' समझते हैं। इस प्रकार ज्ञान-मार्गके अनुसरण करनेवाले कर्मको बन्धनकारी समझते और उपासनाको निकृष्ट मानते हैं। अनेक उपासक अद्वैत-सिद्धान्तको प्रच्छन्नरूपमें उपासनाका विरोधी समझते हैं जिस कारण वे तत्त्व-सिद्धान्तका पठन ही नहीं करना चाहते हैं। कोई-कोई इन दोनोंको तुच्छ समझ केवल योग-मार्गको सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। इस संकीर्णता-का मुख्य कारण यह है कि ऐसे वादीलोग न अपने सिद्धान्त और न दूसरेके सिद्धान्तके यथार्थ तत्त्वको जानते हैं। इस अनभिज्ञताके कारण जो यथार्थमें कर्म अथवा अभ्यास अथवा ज्ञान अथवा भक्ति-योग नहीं है उस अयथार्थको ही यथार्थ मानते हैं और ऐसे भ्रमके कारण स्वयं धोखा खाते हैं और दूसरोंको भी धोखामें डालते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने ऐसे भ्रमको मिटाकर इन मार्गोंका यथार्थ स्वरूप, उन सबोंका परस्पर सम्बन्ध और उन सबकी आवश्यकता और तत्त्वकी दृष्टिसे एकता दिखलायी और किञ्चित् इनके नकली स्वरूपको भी दर्शाया। किन्तु कई टीकाकारोंने अपने-अपने संकीर्ण मतकी

पुष्टिके लिये गीताके स्पष्ट अर्थको ऐसा तोड़-मरोड़ किया कि फिर भी उसके द्वारा भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों और मार्गोंका समन्वय और एकताका प्रतिपादन न होकर—जो गीताका लक्ष्य है—केवल किसी एक सिद्धान्त विशेषका प्रतिपादन किया गया। कई टीकाकारोंने पक्षपातरहित होकर भी लिखा है। गीता चारों मार्गकी आवश्यकता बतलाती है, अतएव उसमें प्रत्येक मार्गका प्रतिपादन किया गया है और एक दूसरेका परस्पर सम्बन्ध दिखलाया गया है। किन्तु जो केवल एक किसी मतविशेषके पक्षपाती हैं वे अन्य मतके प्रतिपादक वाक्यको देखकर घबड़ाते हैं और उसे खींच-तानद्वारा अपने मतकी पुष्टि-में घसीटते हैं।

गीताका सिद्धान्त है कि कर्त्तव्य-कर्म (३।८ और ६।१ और १८।६) और यज्ञ, दान और तपस्या अवश्य कर्त्तव्य हैं (१८।३-५) और यही कर्म-योग है। किन्तु इन कर्मोंको स्वार्थके निमित्त न कर श्रीभगवान्‌के निमित्त करना चाहिये (६।२७)। मन-निग्रहरूप अभ्यास-योग अवश्य परमोत्तम है (६।४६) किन्तु वह तभी श्रेष्ठ है जब कि उसका लक्ष्य श्रीभगवान् होते हैं और जब उन्हींमें मन संलग्न करनेका यत्न भक्तिपूर्वक किया जाता है (६।४७)। ज्ञान अवश्य इस निमित्त परमोत्तम है (४।३८), कि ज्ञानी श्रीभगवान्‌के ऐकान्तिक भक्त होते हैं (७।१७)। और यद्यपि ज्ञानकी प्राप्ति वाह्य-दृष्टिसे योगद्वारा अनेक कालके बाद होती है (४।३८) किन्तु वास्तवमें यथार्थ ज्ञान श्रीभगवान्‌की कृपासे प्रेमपूर्वक सेवा करनेवाले भक्तको प्राप्त

होता है अन्यथा नहीं (१०।१०)। जब अनेक जन्मोंके बाद ज्ञानी समझता है कि समस्त विश्व श्रीभगवद्रूप है, तभी वह श्रीभगवान्‌की साक्षात्प्राप्ति करता है (७।१९) और उसके बाद परा-भक्ति लाभ करता है (१८।५४)। ऊपरके गीताके वाक्योंसे स्पष्ट है कि कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्ति, इन चारों योगोंकी उत्तरोत्तर आवश्यकता है और चारोंकी प्राप्ति होनेपर भगवत्प्राप्ति होती है जो मनुष्य-जीवनका मुख्य लक्ष्य है किन्तु इनमें ज्ञान और भक्ति सबोंमें अन्तर्भुक्त हैं।

अवश्य ज्ञान दो प्रकारका है। एक शास्त्रके सिद्धान्तका ज्ञान और दूसरा उसका अनुभव-ज्ञान, जिसको अपरोक्ष-ज्ञान भी कहते हैं। सिद्धान्तके ज्ञानके दीर्घ-मनन और निदिध्यासनसे अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त होता है। सब साधनाओंके अभ्यासमें साधकके लिये ज्ञानकी यह भावना रखना मुख्य है कि साधक बुद्धिसे भी परे शुद्ध चैतन्य (३।४२, ४३) और परमात्माका अंश है (१५।७) और निदिध्यासनद्वारा इसको प्रत्यक्ष करनेका यत्न करना चाहिये जो मनकी वृत्तियोंके निरोध करनेसे सुलभ हो जायगा। अतएव जो लोग कर्म अथवा अभ्यास अथवा उपासनाका अनुसरण अपनेको देहात्म-बुद्धि-भावसे करते हैं और जो अपनेको शुद्ध चैतन्य समझा करते हैं उनमें बहुत बड़ा अन्तर है। देहात्म-बुद्धि-भाववाले साधक अपनी ऐसी संकीर्ण प्राकृतिक धारणाके कारण पथमें बहुत कम उन्नति कर सकेंगे किन्तु जो अपनेको चैतन्य मानता है वह उस ज्ञानके कारण शीघ्र अपने लक्ष्यकी प्राप्ति करेगा। यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक मार्गके

साधकका परम लक्ष्य श्रीभगवान् होवें, क्योंकि केवल एक वे ही प्राणियोंके यथार्थ कल्याण करनेवाले, माताके समान रक्षक, पितामह, धाता, गति, पालक, प्रभु, सब कर्मोंके साक्षी, परम आधार, शरण देनेवाले, शुभेच्छु, परम कारण, परम लक्ष्य आदि हैं (९।१७, १८) और भी लोकके पिता, पूज्य और गुरु हैं (११।४३)।

केवल परब्रह्मकी दृष्टिसे अद्वैत अवश्य है किन्तु वेदान्तने सृष्टिकालमें छः अनादि माने हैं जिनमें एक जीव भी है, यद्यपि वे सब कारणकी दृष्टिसे एक हैं। माया न सत् है और न असत् है किन्तु अनिर्वचनीय है। जो लोग कहते हैं कि सृष्टि हुई ही नहीं, केवल एक ब्रह्म ही है, अतएव कुछ करना नहीं है उनको वेदान्तका प्रामाणिक ग्रन्थ पञ्चदशीके नीचेके वाक्यपर विचार करना चाहिये—

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥१९७॥
आनन्दमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत् सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥१९८॥

'मायावी ईश्वरने अपनी मायासे अवरुद्ध होकर इस समस्त विश्वकी सृष्टि की, ये परब्रह्मसे भिन्न हैं—ऐसा अनेक श्रुतिमें कथन है। इससे यही सिद्ध हुआ कि ईश्वर ही विश्वकी सृष्टि करते हैं। जिस प्रकार सुषुप्ति-अवस्थाका क्रमसे स्वप्नमें परिवर्तन होता है, उसी प्रकार 'मैं अनेक शरीरमें प्रवेश करूँ' इस संकल्पके कारण वे हिरण्यगर्भरूप हुए।'

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय११ के अन्तिम ५५ श्लोक * जिसमें श्रीभगवान्‌ने अपनी प्राप्तिकी साधना और लक्षण बतलाया है उसके भाष्यमें अद्वैत-मत-प्रवर्तक स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने जो लिखा है उससे उनका सिद्धान्त उपासनाकी परमावश्यकता-के विषयमें स्पष्ट है। उस भाष्यका संक्षिप्त अंश ऐसा है—

'मत्कर्म कृत् माम् एव परमां गतिं प्रतिपद्यते इति मत्परमः अहं परमः परा गतिः यस्य सः अयं मत्परमः। तथा मद्भक्तः माम् एव सर्वप्रकारैः सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजते इति मद्भक्तः।······य ईदृशो मद्भक्तः स माम् एति अहम् एव तस्य परा गतिः न अन्या गतिः काचित् भवति।'

'वह तो मेरे लिये ही कर्म करनेवाला और मुझे ही अपनी परम गति समझनेवाला होता है, इस प्रकार जिसकी परम गति मैं ही हूँ ऐसा जो मेरे परायण है, मेरा ही भक्त है अर्थात् जो सब प्रकारसे इन्द्रियोंद्वारा सम्पूर्ण उत्साहसे मेरा ही भजन करता है, ऐसा मेरा भक्त है।······ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मुझे पाता है अर्थात् मैं ही उसकी परम गति हूँ, उसकी दूसरी कोई गति कभी नहीं होती।' गीताके ६ वें अध्याय के ३३ वें श्लोकके † भाष्यमें उक्त श्रीस्वामीजी महाराजने भजनका सेवा अर्थ किया है जैसा कि 'भजस्व सेवस्व माम्।'

---

* मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

† किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

योगके अनुयायी ज्ञान और भक्ति दोनोंकी उपेक्षा करते हैं और केवल योगको ही एकमात्र सर्वोच्च साधना मानते हैं। यह यथार्थ है कि योग सर्वोच्च है जिसका प्रमाण गीताके अध्याय ६ का ४६ वाँ श्लोक है, जैसा कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

'तपस्वीसे, और (शास्त्रके) ज्ञानीसे भी और कर्म करनेवालेसे भी योगी बड़ा है, अतएव हे अर्जुन! योगी होवो।' किन्तु यथार्थ योग क्या है इसको बहुत कम लोग जानते हैं। यथार्थ योगका वर्णन गीतामें है, इस कारण प्रत्येक अध्याय कोई-न-कोई योगके नामसे है। मनकी शुद्धि और निग्रह अभ्यास-योगका मुख्य उद्देश्य है किन्तु विना निष्काम-कर्म किये और विवेकद्वारा वैराग्य प्राप्त किये यह हो नहीं सकता। न हठ-योग और न लय-योग और न केवल मन्त्र-योगसे मनकी शुद्धि और निग्रह सम्भव है। हठ-योगका मुख्योद्देश्य स्वास्थ्यका सुधार है जो अवश्य आवश्यक है, किन्तु आजकल हठ-योगके प्रवीण गुरुके अभावके कारण उसके अभ्याससे स्वास्थ्यका सुधार न हो रोगकी उत्पत्ति होती है, जिसके कारण कोई-कोई साधककी अकाल-मृत्यु-तक हो जाती है। हठ-योगके आसन, बन्धका अभ्यास स्वास्थ्यके लिये उत्तम है और उससे लाभके सिवाय हानिकी सम्भावना नहीं है। किन्तु हठ-योगके प्राणायामसे भी मनका यथार्थ निग्रह नहीं होता है, क्योंकि मन प्राणसे उच्च होनेके कारण प्राण मनका अनुसरण करता है न कि मन प्राणका। सुषुप्तिके समान

लय-अवस्थाकी प्राप्ति मन-निग्रह नहीं है। यथार्थ राज-योग केवल वेदान्तके सिद्धान्तकी जानकारी अथवा केवल वचनसे अपनेको ब्रह्म मानना नहीं है। गीतामें यथार्थ राज-योगका सांगोपांग वर्णन है जिसके चार मुख्य भाग हैं जैसा कि कर्म-योग, अभ्यास-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग। इसी कारण इस साधन-संग्रहके भिन्न-भिन्न प्रकरणमें इन चारों योगोंका वर्णन गीताके अनुसार है जिसको ठीक-ठीक बहुत कम लोग जानते हैं।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है आजकल यथार्थ ज्ञानका सिद्धान्त क्या है, ज्ञानकी कैसे प्राप्ति होगी, ज्ञानका क्या मुख्य लक्ष्य है, ज्ञानकी क्या साधना है, ज्ञानीका क्या लक्षण है; इन आवश्यक विषयोंको बहुत लोग नहीं जानते किन्तु इनके विषयमें ऐसा अधूरा, अपरिपक्व और मनमुखी सिद्धान्त प्रचलित है जो यथार्थके एकदम विरुद्ध है। इसके कारण आजकल बड़ी हानि हो रही है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि नाना सिद्धान्तोंका आपसमें बहुत बड़ा भेद देखनेमें आता है। इन भेदोंका कारण यथार्थ सिद्धान्तके केवल एक भागको ही सम्पूर्ण समझ अन्य भागके अस्तित्वको नहीं मानना है अथवा उनको असत्य मानना है। इस संक्षिप्त ज्ञान-योगका उद्देश्य इन नाना वादोंकी विभिन्नता-को दूर कर एकता स्थापन करना है जो परमावश्यक है, क्योंकि भेद केवल एकदेशीय और संकीर्ण दृष्टिके रखनेके कारण होता है जो पूरे सिद्धान्तको जानकर उसके पूर्वापर सम्पूर्ण स्वरूपपर दृष्टि डालनेसे और पक्षपातरहित होकर विचार

करनेसे दूर होता है। कथा है कि कई अन्धोंने हाथीके भिन्न-भिन्न अङ्गका स्पर्शकर उसको भिन्न-भिन्न रूपका समझा। कानके स्पर्श करनेवालेने सूपके समान, पगके स्पर्श करनेवालेने ओखलीके समान, सूँड छूनेवालेने मूसलके समान और इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकारका वर्णन किया जो सत्य अवश्य था किन्तु केवल एक अंशका वर्णन होनेके कारण उनमें भेद था। इन भेदोंके कारण वे हाथीके स्वरूपके विषयमें आपसमें विवाद करने लगे और प्रत्येक अपने-अपने मतको सत्य मानता और दूसरेको असत्य मानता था। नेत्रवालेने उन अन्धोंसे कहा कि तुम सबोंका कथन ठीक है किन्तु वह धारणा हाथीके केवल एक भागका है, सम्पूर्णका नहीं। अतएव हाथीमें वे सब विशेषण लागू हैं और उनसे वह अधिक भी है, क्योंकि तुम लोगोंने हाथीके जितने अङ्गका स्पर्श किया उनसे भी अधिक अङ्ग उसमें है। यही कारण नाना सिद्धान्तोंके वादका है।

मुख्य उद्देश्य ज्ञान-योगके प्रकाशित करनेका यह है कि यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिकी यथार्थ साधनाको प्रकाशित कर ज्ञानकी प्राप्तिमें सहायता करना और ज्ञानके बाद जो साक्षात् भगवत्प्राप्तिकी अवस्था है और उसकी जो साधना है उसके निमित्त साधकको प्रस्तुत करना। पाठकको साधन-संग्रहके सब प्रकरणोंको पढ़ना चाहिये जैसा कि इसके पूर्वके प्रकरणको और इसके बाद जो मुख्य प्रकरण भक्ति-योग और राज-विद्याकी दीक्षा और सद्गुरु आदिके विषयमें प्रकाशित होगा उनको अवश्य पढ़ना चाहिये।

Opinion of Pandit Gopinath Kaviraj, M. A., Principal, Govt. Sanskrit College, Benares and Superintendent, Sanskrit Studies, U. P.

Sanskrit College,
BENARES.

Dated the 28th. November, 1932.

JNAṆA-YOGA.

It is an interesting booklet purporting to give a brief account in Hindi of the entire course of Spiritual discipline known under the name of 'Jnana-Yoga' in the religious literature of the Hindus. The author does not claim any originality for the work, which is based on the teachings of Pandit Bhavani Shankarji of all-India reputation. It is a nice little book and will amply repay a careful perusal. Portions of it are truly illuminating. In view of the nature of the subject-matter and of the lucid mode of its treatment the work is deserving of every encouragement in circles where Hindi language and Hindu religion are studied.

Gopinath Kaviraj,
Principal, Govt. Sanskrit College,
BENARES.

Opinion of Dr. A. Banerji Sastri, M. A., D. Phil. (OXON) Professor of Sanskrit, Patna College.

The Hindi book 'Jnana-Yoga' in the 'Sadhana-Sangraha' series compiled by a pupil of the saintly Pandit Bhavani Shankarji, is an attempt to elucidate the doctrines of the Bhagavad-Gita in their actual bearing on every-day-life. Illuminated by the view-point of Shankara—'This famous Gita-Sastra is an epitome of the essentials of the whole Vedic teaching......A knowledge of its teaching leads to the realization of all human aspirations. Hence my attempt to explain it,' the Panditji seeks to carry the sublime truth to the layman as well as learned, the householder and the renouncer. I have read more learned expositions in Sanskrit, and even in other vernaculars. But a more passionate appeal in Hindi bearing every evidence of prolonged study and meditation, in a Hindi style with a resilient fibre underneath its delicacy and yet a certain freedom as of conversational familiarity—I have not come across before. May the book be read in the spirit in which it has been written.

A. Banerji Sastri.

20-11-32

कई संस्कृत-ग्रन्थोंके टीकाकार काशी-निवासी पण्डित श्रीबलभद्रदासजी परमहंसकी सम्मति—

'श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादिके परम सात्त्विक वचनोंके आधारपर यह 'ज्ञान-योग' पुस्तक प्रस्तुत की गयी है। इसमें ४७ विषय हैं। इन जटिल प्राचीन शास्त्रीय विषयोंको ऐसी सुन्दरता और सरलतासे समझाया गया है कि विषय बोध-गम्य और चित्ताकर्षक हो गया है। द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि सिद्धान्तोंका परस्परका भेद और विवाद मिटाकर उनकी एकता सिद्ध की गयी है। गीतामें परम गोप्य और रहस्य 'त्रिपुटी' और 'चतुष्पाद्'-के सिद्धान्त हैं उनका इस पुस्तकमें उद्घाटन किया गया है।'

पण्डित श्रीभवानीशङ्करजीका 'ज्ञान-योग' परमोपयोगी पुस्तिका है, जिसको तत्त्वके जिज्ञासुओंको अवश्य पढ़ना चाहिये। इसमें गीताकी परा और अपरा प्रकृतियोंका उत्तम वर्णन है जो अन्यत्र देखनेमें नहीं आता। पुराणोंके सृष्टि-प्रकरणका सिद्धान्त संनिवेशित करनेसे अनेक गुह्य विषयों-पर विशेष प्रकाश पड़ा है। एक बहुत बड़ी विशेषता इसमें यह है कि द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैतके विवाद और योग, ज्ञान और भक्तिकी विभिन्नताको इस पुस्तकने हटाकर उनकी एकता सिद्ध की है जो बड़े महत्त्वका विषय है।

काशीप्रसाद जायसवाल

(एम० ए०, बार-एट-ला) पटना

श्रीपरमात्मने नमः

साधनसंग्रहान्तर

ज्ञा न यो ग

उद्देश्य

निष्काम कर्म-योगद्वारा मनके राग-द्वेषरूप मलको दूर करके और अभ्यास-योगद्वारा मनके विक्षेपका नाश करनेपर ही साधक ज्ञान-मार्गका अधिकारी होता है, अन्यथा नहीं। लिखा है—

> कर्मयोगं विना ज्ञानं कस्यचिन्नेह दृश्यते।
>
> (मत्स्यपुराण ५२)
>
> क्रियायोगं विना नृणां ज्ञानयोगो न सिध्यति।
>
> (बृहन्नारदीय पुराण ३१। ३२)

कर्म-योगके सम्पादन विना किसीको ज्ञान नहीं होते देखा। मनुष्यको क्रिया-योगके विना ज्ञान-योगकी उपलब्धि नहीं होती है।

ज्ञान-मार्ग अथवा ज्ञान-योगका उद्देश्य बुद्धिको विचक्षण, उन्नत एवं शुद्ध करके आत्माका परिचय लाभकर आत्मामें

स्थिति प्राप्त करना है। यथार्थ ज्ञानी सुख-दुःख, हानि-लाभ-जन्म-मरण इत्यादि द्वन्द्वोंके विकारसे छूट जाता है और सदा समुद्रवत् परिपूर्ण एवं आकाशवत् निर्लिप्त रहकर सर्वदा प्रसन्न रहता है। ज्ञानमार्ग अत्यन्त कठिन है और अपवित्र-हृदय तथा शम-दमादि-विहीन लोगोंके लिये विपत्तियोंसे भरा हुआ है। इसमें भ्रम और मार्ग-च्युत होनेकी अधिक सम्भावना है। इसके अनुयायीकी बुद्धि बहुत विचक्षण, स्वच्छ, तीव्र और अहंकाररहित होनी चाहिये। इसमें अहङ्कार-दमनके नामपर यथार्थमें अन्यरूपमें अहंकारकी वृद्धि होनेकी सम्भावना है. जिससे साधकका पतन होता है। जब साधक पहिले निष्काम परोपकारी कर्म (कर्म-योग) द्वारा चित्तकी शुद्धि करता है, सब स्वार्थ-कामनाओंका त्याग करता है और अभ्यास-योगद्वारा चित्तकी चञ्चलता, विक्षेपता और अशान्तिका नाश करता है, तब ही वह ज्ञान-योगका अधिकारी होता है, अन्यथा नहीं। ज्ञान-योगके साधन-चतुष्टय यह हैं—१ विवेक, २ वैराग्य, ३ शमादि षट् सम्पत्ति और ४ मुमुक्षुता।

विवेक

यथार्थमें विवेक (जिसको विचारका परिणाम कह सकते हैं) सर्वप्रथम साधना होनेके कारण अन्य सब साधनाओंका मूल है, जिसकी दृढ़ताके बिना अन्य सब बेकार हैं। विवेककी उत्पत्ति क्रमशः होती है। आनन्दका अन्वेषण करना मनुष्यों-के लिये स्वाभाविक है, क्योंकि आत्मा आनन्दरूप है; अतएव आनन्दका खोजना मानो आत्माका (अपने-आपको) खोजना

है। मनुष्य इस आनन्दको पहिले सांसारिक पदार्थोंमें खोजता है * किन्तु उनमें न पाकर और खोजते-खोजते थककर फिर वह आन्तरिक—मानसिक सुखमें आनन्दकी खोज करता है जो सुख उत्तम-उत्तम ग्रन्थोंके पढ़ने और उनके विषयोंके विचारने आदि उच्च और उत्तम मानसिक कर्मसे होता है। यह सुख विषय-जनित सुखसे कहीं उत्तम है, क्योंकि विषय-भोगके सुखके अन्तमें प्रायः दुःख होता है और उस सुखका विषय भी अल्प है। इस प्रकारकी एक वस्तुसे प्रायः एक ही पुरुष सुख-लाभ कर सकता है, दूसरा नहीं; किसी भोजनके पदार्थको खानेसे वह पदार्थ नष्ट हो जाता है, फिर दूसरेके काम नहीं आ सकता। स्वादिष्ठ वस्तुको अधिक खानेसे प्रायः

---

* विषय-भोगसे जो सुख प्राप्त होता है वह आनन्द नहीं है। जब किसी इच्छित पदार्थकी प्राप्तिसे मन किञ्चित् कालके लिये एकाग्र और स्थिर हो जाता है तब उसके कारण आत्माका आनन्द जो अन्तरमें है, उसके क्षुद्रातिक्षुद्र अंशकी प्राप्ति किञ्चित् कालके लिये होती है जिसको मनुष्य अज्ञानताके कारण उस पदार्थमेंसे निकला समझता है। जब किसी व्याधि अथवा शोकके कारण चित्तका भाव ऐसा व्यग्र हो जाता है कि वह स्थिर और एकाग्र नहीं हो सकता, तब किसी इच्छित पदार्थकी प्राप्ति होनेपर भी, सुख नहीं मिलता। इससे अच्छी तरह प्रकट होता है कि आनन्द हमारे अन्तरमें है, किसी बाह्य पदार्थमें नहीं है। अतएव बाह्य पदार्थकी प्राप्तिसे जो सुख मिलता है वह क्षणिक और काल्पनिक है। वह यथार्थ आनन्द नहीं है केवल छायामात्र है; प्रथम तो वह पदार्थ नाश हो जाता है, द्वितीय उस पदार्थके रहते भी उससे कालान्तरमें पूर्वकी नाईं सुख-प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि विषयोंका चित्त अधिक समयतक एकाग्र और स्थिर नहीं रह सकता, जो सुखका मुख्य कारण है।

व्याधि होती है। नशीली वस्तु तथा विषय-भोगसे जो पश्चात् क्लेश होता है वह प्रसिद्ध ही है। ऐसा ही विषय-भोगके दुरुपयोगसे बुरा परिणाम होता है। किन्तु मानसिक सुखका विषय ऐसा है कि एक वस्तुसे भी अनेक मनुष्य सुख प्राप्त कर सकते हैं और किसीका सुख दूसरेके उसी विषयसे सुख पानेके कारण न्यून नहीं होता। जैसा कि एक ही पुस्तकको अनेक पुरुष पढ़कर सभी उससे आनन्द प्राप्त कर सकते हैं और इसमें दूसरे किसीके आनन्दकी कमी भी नहीं होती। दूसरे प्रकारका मानसिक आनन्द सत्य—कल्याणप्रद और पवित्र सुन्दर पदार्थके प्रति मनको आवेश करनेसे होता है जो ईश्वर-प्रेमकी प्राप्तिमें विशेष सहायक है। जब मानसिक आनन्दसे भी जिज्ञासुको पूर्ण शान्ति नहीं मिलती और वह उसको भी परिवर्तनशील पाता है; तब आनन्दके यथार्थ रूप और मूलको जाननेके लिये सत् और असत्, आत्मा और अनात्मा, विद्या और अविद्या, दुःख और सुखके यथार्थ कारण, सत्-चित्-आनन्द आदिका विचार और अन्वेषण करने लगता है। परिपक्व विचार होनेपर वह निश्चय करता है कि जितने बाह्य पदार्थ हैं, सब मायाके कार्य होनेसे नश्वर और भोग्य-विषय बननेसे परिणाममें दुःखद हैं, अतएव आत्माकी दृष्टिसे असत् हैं; केवल एक आत्मा ही, जो सबके अन्दर है, अचल, सत्-चित्-आनन्दरूप है। फिर वह बाह्य पदार्थमें आनन्दका खोजना छोड़कर आनन्दका मूल जो अन्तर-आत्मा है, उसीको आनन्दस्वरूप जान उसीकी प्राप्तिकी चेष्टा करता है। इस निमित्त वह मनकी बहिर्मुख वृत्तिको अन्तर्मुख करनेकी चेष्टा

करता है, क्योंकि बाह्यमें खोजनेसे आत्मा कहीं नहीं मिलेगा किन्तु अन्तर-दृष्टि प्राप्त करनेपर जहाँ देखेंगे वहीं आत्माकी प्राप्ति होगी।

कर्म और अभ्यास-योगद्वारा चित्त-शुद्धि होनेपर आत्म-तत्त्वके सिद्धान्तोंका अनुशीलन करनेसे धीरे-धीरे विवेक-शक्ति उत्पन्न होती है, पश्चात् साधक अपने निश्चयमें और आचरणमें विवेकी होता है। वह विवेकी अनुशीलनद्वारा विचारता है कि संसार क्या है? मैं क्या हूँ? परमार्थ क्या है? परमात्मा क्या है? जीवात्मा क्या है? परमात्मासे और जीवात्मासे क्या सम्बन्ध है? सृष्टिका नियम क्या है? सुख-दुःखका कारण क्या है? सांसारिक पदार्थ यथार्थमें सुख देनेवाले हैं अथवा दुःख देनेवाले इत्यादि-इत्यादि। और इन विचारोंसे जो यथार्थ परिणाम निकलता है उसमें वह दृढ़ निश्चय रखता है और उसी निश्चयके अनुसार वर्तता है। विवेकी सब घटनाओंसे और विशेषकर उनके परिणामसे ज्ञान (अनुभव) प्राप्त करता है जिसके कारण वह उस ज्ञानके विरुद्ध कदापि नहीं चलता। जैसा कि जिस कर्मको उसने अपनेमें अथवा दूसरोंमें हानि-कारक समझा है उसको फिर वह कभी नहीं करेगा। हम लोग अपने नेत्रोंके आगे प्रतिदिन लोगोंको मरते देखते हैं, जिसमें बालक, युवा आदिका कुछ भी विचार नहीं किया जाता; लक्ष्मीको सदा चञ्चल पाते हैं, वह कभी एक स्थानमें स्थिर नहीं रहती और बाह्य दृष्टिसे सुख देनेवाली सांसारिक वस्तुको भी नाशवान् पाते हैं; तो भी हम लोग जन्मभर इन्हीं नाशवान्

वस्तुओंको प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगे रहते हैं, मानो न तो कभी हमें संसारको त्यागना पड़ेगा और न कभी सांसारिक वस्तु ही हम लोगोंको त्यागेगी। ऐसा देखते भी हम लोग जो अन्धे हो रहे हैं, जिसको प्रत्यक्ष देखते हैं, उसका भी प्रभाव चित्तपर नहीं पड़ता और कभी इनके विचारमें प्रवृत्त भी नहीं होते हैं, यह सब केवल विवेकके अभावके कारण ही होता है। भर्तृहरिका वचन है—

> आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं,
> व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
> दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
> पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

सूर्यके उदय और अस्त होनेसे प्रतिदिन आयु क्षीण होती जाती है किन्तु बहुत बड़े काम-धन्धेमें लगे रहनेके कारण समयका व्यतीत होना जान नहीं पड़ता। जन्म होता है, वृद्धावस्था आ जाती है, विपत्तिमें पड़ जाते हैं और मृत्यु आ जाती है, इनको देखकर भी लोगोंको भय नहीं उत्पन्न होता, इसका कारण यही है कि मोहरूपी मदिरा पीकर संसार पागल हो रहा है। जबतक विवेक नहीं उत्पन्न होता तबतक जीव संसारमें फँसा रहता है और सांसारिक पदार्थ उसको मोहित करते रहते हैं। विवेकरूप चक्षुके खुलनेपर दृष्टि मायिक पदार्थोंके भीतरतक जाती है, जिसके कारण वह उनको असत्य जानता और उसमें आसक्त नहीं होता। वेदान्त आदि शास्त्रके विषयोंको ठीक तरहसे विचारनेसे बुद्धि तीक्ष्ण और शुद्ध होकर विवेक उत्पन्न होता है जो साधनाका प्रथम और मुख्य अङ्ग है।

अतएव शास्त्र-आलोचना मुख्यतः विवेक-प्राप्तिके निमित्त है। केवल वेदान्त-शास्त्रके पढ़नेसे कदापि ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्रके सिद्धान्तको बिना विचारे और हृदयङ्गम किये विवेक भी नहीं प्राप्त हो सकता, ज्ञान तो दूर है। विवेकसे तात्पर्य यह है कि मायिक दृश्यको असत् और मायाका कार्य जान उससे न मोहित होना और न उसमें किसी प्रकारकी आसक्ति करनी, किन्तु उसमें भी आत्माकी स्थिति मान उसको आत्माकी दृष्टिसे देखना और आत्माके कामके लिये ही उससे सम्बन्ध रखना और व्यवहार करना, भोगेच्छासे नहीं। यह विवेक, सत्सङ्ग, तत्त्व-सिद्धान्तोंके विचार, सांसारिक कार्योंके अन्तिम परिणामके अनुशीलन आदिद्वारा प्राप्त होता है। विवेक केवल विश्वासात्मक न होकर अभ्यासात्मक है। समीचीन विश्वासके अनुसार अभ्यास करनेका ही नाम विवेक है। मनुका वचन है—

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥

(अ० १२। ११८)

विवेकी क्या सत् है क्या असत् है, इन बातोंको विचारकर सबको आत्माकी दृष्टिसे देखे और इस प्रकार सबको आत्मभावसे देखकर अधर्मकी ओर मनको न झुकावे।

वैराग्य

द्वितीय साधन वैराग्य है। विवेकका परिणाम वैराग्य है। जब सांसारिक वस्तुओंको विवेकद्वारा असत् और नाशवान्

अनुभवद्वारा जान लिया, तो उन पदार्थोंकी लालसा अथवा उनमें आसक्ति मनमें रह नहीं सकती। सत्का विवेक होनेसे असत् चित्तको अपनी ओर खींच नहीं सकता। विवेकीमें किसी सांसारिक वस्तुके निमित्त राग अथवा द्वेष नहीं रहता—यही वैराग्य है। वैराग्य होनेपर साधकको किसी भी पदार्थ और उसके परिणाममें न आसक्ति रहती है और न ममता होती है किन्तु वह उनसे द्वेष भी नहीं करता। विवेकके कारण सब बाह्य पदार्थोंको अनात्मा और असत् जान उनके संयोग-वियोगमें विवेकी समान रहता और सुखसे अपना समय बिताता है। दुःखका मूल ममता ही है, सांसारिक पदार्थ नाशवान् हैं और उनके वियोग होनेपर ममताके कारण बड़ा दुःख होता है। ममताके कारण ही सांसारिक लोग बहुत बड़ा दुःख भोगते हैं। अतएव ममता और आसक्तिके त्यागसे ही साधारण दुःखकी बहुत कुछ निवृत्ति हो जाती है। महाभारत-शान्तिपर्व अ० १३ का वचन है—

> द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
> ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥ ४॥

दो अक्षरोंसे मृत्यु होती है और तीन अक्षर सनातन ब्रह्म है। (दो अक्षरवाले) मम अर्थात् ममतासे मृत्यु होती है और (तीन अक्षर) न मम अर्थात् ममताका अभाव सनातन अमर-भाव है। ममता-त्यागका यह तात्पर्य नहीं है कि दूसरोंपर दया न की जाय अथवा अपने कर्तव्यपालनमें उदासीनता रहे। दया अर्थात् पर-दुःख-निवारणका यत्न आवश्यक है और साथ-साथ कर्तव्य-पालन भी, किन्तु इनको निष्काम-भावसे

ममत्वका त्यागकर करना चाहिये, न कि स्वार्थ-भावसे। कुटुम्ब-सम्बन्धियोंका पालन ममताके कारण न कर कर्तव्य-पालनकी भाँति निष्काम-भावसे फलके परिणाममें समान रह-कर करना चाहिये। संसार-यात्रामें वैराग्य अर्थात् ममता-त्याग-से बड़ी सहायता मिलेगी, अतएव सबको इसका उचित अभ्यास करना चाहिये। पूर्ण वैराग्यकी अवस्थामें साधकको विषयों-से चित्तको हटानेकी चेष्टा नहीं करनी पड़ती, वे आप-से-आप हट जाते हैं और उसके चित्तको कदापि विचलित नहीं कर सकते। सांसारिक वस्तुओंकी वासना वैराग्यवान्‌में नहीं रहनेके कारण उनके फलोंकी भी इच्छा जाती रहती है, अतएव वैराग्य-वान् तृणसे लेकर ब्रह्मलोकतककी इच्छा नहीं रखता अर्थात् वह स्वर्गादि लोकके सुखकी भी लालसा नहीं करता।

सब प्रकारके अधर्माचरणका मूल कुत्सित वासना और स्वार्थ-जन्य ममता है। नाना प्रकारके सांसारिक विषयों और पदार्थोंमें आसक्ति और ममता रहनेके कारण उनकी प्राप्तिके लिये अथवा उनकी रक्षाके लिये अथवा उनके वियोगको रोकने आदि-के लिये ही लोग धर्मके विरुद्ध आचरण करते हैं; क्योंकि उनके लिये सांसारिक पदार्थ धर्मसे अधिक प्रिय रहते हैं, इनके द्वारा उनको लाभ और फल प्रत्यक्षमें मिलता है परन्तु धर्मके फल प्रत्यक्ष नहीं दीख पड़ते। किन्तु जब साधक विवेक-से समझता है कि सांसारिक पदार्थ प्रकृतिके कार्य होनेसे अनात्म और असत् हैं एवं उनसे यथार्थ सुख कदापि नहीं मिल सकता तथा इसी कारण उनका नाश अवश्यम्भावी है

जो लाख यत्न करनेपर भी रुक नहीं सकता और सत् और आनन्दका मूल केवल आत्मा है जिसमें स्थिति होनेसे ही दुःख-की निवृत्ति हो सकती है; तब वह सांसारिक पदार्थोंसे ममता और आसक्तिका त्याग करके उनके यथार्थ मायिक रूपको आत्माकी दृष्टिसे देखता है और तभी वह दुःखके फन्देसे छूटता है। इस संसारमें जितने दुःख और क्लेश देखनेमें आते हैं वे सब कामात्मक ममता और आसक्तिके कारण हैं और उनसे छूटनेका उपाय केवल विवेक-वैराग्य है जो यथार्थमें प्राणियोंका बड़ा मित्र है। इस मित्रका आश्रय सबोंको लेना चाहिये और इनसे कदापि भय नहीं करना चाहिये। वैराग्यहीन दुःखमें अवश्य पड़ता है। दुःख-पीड़ित और चिन्ताग्रस्तोंके लिये विवेक-वैराग्य बड़ा ही त्राणकर्ता है। उन लोगोंको इसका आश्रय अवश्य लेना चाहिये। लिखा है—

ममताभिमानशून्यो विषयेषु पराङ्मुखः पुरुषः ।
तिष्ठन्नपि निजसदने न बाध्यते कर्मभिः क्वापि ॥

जो पुरुष ममता-अभिमानसे शून्य है और विषयमें आसक्तिहीन है वह गृहमें रहनेपर भी कर्मोंसे नहीं बाँधा जाता। महाभारत-शान्तिपर्व अ० ३३० का वचन है—

भैषज्यमेतद्दुःखस्य　　यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्द्धते ॥ १२॥

दुःखका (यथार्थ) प्रतिकार यही है कि उसकी चिन्ता न करे, क्योंकि चिन्ता करनेसे वह घटती नहीं किन्तु बढ़ती है।

दुःखकी चिन्ता न करके उपेक्षा करना केवल वैराग्यकी प्राप्तिसे सम्भव है। इस वैराग्यकी प्राप्तिके लिये निरन्तर विवेक-विचारकी आलोचना और आत्मचिन्तनकी आवश्यकता है। वैराग्यवान् होना शुष्क-चित्त होना नहीं है। वैराग्य होनेपर भी साधक अपने कर्तव्यके पालनसे विमुख न होकर बड़ी सावधानीके साथ उसका पालन करता है। उसका जो कर्तव्य परिवार-समाज आदिके प्रति है, उसको वह ममता और आसक्तिको त्यागकर अवश्य पालन करता है, बल्कि ममतारहित और वैराग्ययुक्त होनेके कारण चित्तकी उत्सुकता और फलाकांक्षाके अभावसे चित्तके विशेष स्थिर और समाहित होनेसे वह अपने कर्तव्यका पालन और भी उत्तमतासे करता है। उपर्युक्त महाभारतके श्लोकके बादका श्लोक यों है—

> प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
> एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात्॥

मानसिक दुःखका प्रतिकार ज्ञानसे और शरीरके दुःखका ओषधिद्वारा करे; यह ज्ञानकी सामर्थ्य है। किन्तु बालकके समान (अकर्मण्य) न हो जाय।

वैराग्य सत्संग और सद्विचारसे प्राप्त होता है और कुसं-सर्ग तथा दुष्ट भावनासे उसका ह्रास होता है। वैराग्यवान्को कदापि किसीसे द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि जैसे राग (विषयासक्ति) से जीवात्मा बाँधा जाता है उसी प्रकार द्वेषसे भी द्वेषके विषयके साथ सम्बन्ध होकर उसका विकार द्वेषकी भावना-

रूपमें अभ्यन्तरमें प्रवेशकर उसे बाँधता है। इस कारण कुत्सित विषयके प्रति द्वेष न कर उसकी उपेक्षा करनी चाहिये अर्थात् उसकी स्मृति किसी रूपमें भी मनमें नहीं आने देनी चाहिये। उत्तम राग अर्थात् आसक्ति भी बन्धनका कारण होता है। तपस्वी राजा भरत एक मातृ-पितृ-हीन मृगके अबोध बच्चेकी रक्षा करनेकी आसक्तिमें पड़कर उसमें ऐसे तल्लीन हो गये कि दूसरे जन्ममें उन्हें स्वयं मृग बनना पड़ा। यह कथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ अध्याय ८ में है। कुसंगका दृष्टान्त यह है कि इन्द्रने किसी ऋषिके तपको भङ्ग करनेके उद्देश्यसे उनके पास एक खड्ग रक्षाके लिये रख दी। ऋषि उसकी रक्षाके निमित्त आश्रमसे बाहर जानेपर भी खड्गको अपने साथ रखने लगे, परिणाम यह हुआ कि पहिले वे उस खड्गसे वृक्षादि काटने लगे और फिर पशु आदिकी हत्या करने लगे। इस प्रकार हिंसक बनकर अन्तमें तपसे भ्रष्ट हुए। इन दोनों दृष्टान्तोंमें न दोष मृगके बच्चे-में था और न खड्गमें, किन्तु आसक्तिके कारण ही अनर्थकी उत्पत्ति हुई। यदि तपस्वी भरत उस मृगके बच्चेके अनात्म शरीरको नश्वर जान उसमें प्रेम न करके उसके अभ्यन्तरस्थ अविनाशी आत्मामें प्रेम करते और उसके वाह्य शरीरमें राग न रखकर केवल कर्तव्य जान उसकी रक्षा करते तो उस मृगकी आत्मभावनाद्वारा उनको आत्मस्थिति हो जाती और तब उस मृगके वियोगसे न उन्हें शोक होता और न वे मृगका जन्म ही धारण करते। इसी प्रकार यदि पूर्वोक्त ऋषि उस अनात्म जड़ खड्गको सदा साथ रखनेपर भी मायिक नश्वर पदार्थ समझते और ऐसा समझ उसकी

भावना चित्तमें नहीं आने देते तथा चित्तसे उसकी एकदम उपेक्षा करते, जैसा कि वह है ही नहीं, तो वे भी सदा खड्गको साथ रखनेपर भी हत्याकारी नहीं बनते।

कर्म-योगके समान ज्ञान-योगके भी अधिकारी गृहस्थ हैं। ज्ञान-योगका यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि वैराग्यके कारण किसी सांसारिक विषय अथवा वस्तुसे सम्बन्ध ही न रक्खे और उनके साथ व्यवहार ही न करे। अभिप्राय यह है कि सांसारिक वस्तुको अनात्म, क्षणभङ्गुर आदि मान उनमें आसक्ति न करे किन्तु निःसङ्ग और निष्काम होकर न्याय-पूर्वक कर्तव्य-पालन अवश्य करे और उसके निमित्त उनका आवश्यक संग्रह, रक्षण और व्यवहार भी करे। वैराग्यवान् कर्त्तव्य-पालनमें कदापि उपेक्षा न करेगा किन्तु परिणाममें सम रहेगा। इस सम-भावके कारण वह कर्त्तव्य-पालन करते हुए सिद्धि-असिद्धि, हानि-लाभ, सुख-दुःखके पानेपर भी शान्त रहेगा और कदापि विचलित, व्यग्र और क्षुब्ध न होगा जो परम वाञ्छनीय अवस्था है। महाभारतका वचन है—

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
सरः पङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव॥
निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः॥

स्त्री-पुत्र-कुटुम्बमें आसक्त होकर जीव पङ्क-निमग्न जीर्ण

वनहस्तीकी तरह संसारपङ्कमें प्राप्त होकर अत्यन्त दुःख पाते हैं। ग्रामनिवासी जनोंकी जो कामादि ग्राम्य कर्ममें आसक्ति है वही बन्धनकारी रज्जुतुल्य है। पुण्यात्मा लोग इस रज्जुको काट सकते हैं, परन्तु भाग्यहीन विषयी इसे काट नहीं सकता है।

वैराग्यवान् ही निःस्वार्थ दया और प्रेमका अभ्यास कर सकता है, क्योंकि स्वार्थ-रहित होनेके कारण वह दूसरोंका विशेष उपकार कर सकता है। परन्तु पूर्ण वैराग्य तो श्रीपरमेश्वरमें प्रेम होनेपर और आध्यात्मिक दीक्षाके पानेपर ही होता है, जिसका वर्णन पीछे होगा।

शमादि षट् सम्पत्ति

तृतीय साधन शमादि षट् सम्पत्ति है जो छः साधनाओंका एक समूह है और वे छः मनसे सम्बन्ध रखते हैं—१ शम २ दम ३ उपरति ४ तितिक्षा ५ श्रद्धा ६ समाधान।

शम—जब अभ्यासद्वारा चित्त एकाग्र हो जाता है और आचरण सर्वथा ऐसा शुद्ध हो जाता है कि कभी कोई दुष्ट आचरण साधकसे नहीं हो सकता, जब विवेक-वैराग्यद्वारा मायिक पदार्थ उसे किसी अवस्थामें अपनी ओर आसक्त नहीं कर सकते और जब चित्त ऐसा पूर्णरूपसे वश हो जाता है कि कभी उसमें कोई दुष्ट वासना अथवा संकल्प आता ही नहीं; तभी शमकी प्राप्ति समझी जाती है। शम प्राप्त होनेसे साधक समझता

है कि केवल उसके कर्मोंहीका प्रभाव लोगोंपर नहीं पड़ता किन्तु उसके चित्तमें जो भावना उठती है उनसे भी दूसरेको हानि-लाभ होता है; दुष्ट भावनासे दूसरेकी हानि होती है और उत्तम भावनासे लाभ होता है। ऐसा साधक चित्तमें सदा सावधानी रखता है और आवश्यक एवं उत्तम भावनाओंको छोड़कर कभी अनावश्यक और दुष्ट भावना चित्तमें नहीं आने देता *। इस प्रकार मन—चित्तको शुद्धकर वशमें रखना और विक्षेपरहित बनाकर शान्त और एकाग्र कर देना शम है। वैराग्यके कारण जब अनात्म पदार्थोंकी आसक्ति जाती रहती है जो आसक्ति, मल और विक्षेपका मुख्य कारण है और जब अनात्म-भावनाके बदले आत्मभावनाहीमें मन प्रवृत्त रहता और उसके द्वारा समाहित हो जाता है तभी साधक साधनमें अग्रसर होनेके योग्य होता है। साधन-पथमें मनकी शुद्धि और निग्रह मुख्य है, क्योंकि विषयासक्त मन ही बन्धन करता है और समाहित मनकी शक्तिद्वारा ही इन्द्रियाँ वशमें होती हैं एवं बुद्धिकी तीक्ष्णताहीसे आत्मतत्त्वका अनुशीलन और पर्यालोचन हो सकता है। इसी कारण सब साधनाओंमें शम मुख्य है और शमादि षट् सम्पत्तिमें

---

* साधारण लोग अपने चित्तपर कुछ सावधानी नहीं रखते, दिनभरमें जितनी भावनाएँ उनके चित्तमें आती हैं उनमेंसे तीन भागसे अधिक तो ऐसी रहती हैं जो सर्वथा अनावश्यक और व्यर्थ हैं। इसका परिणाम यह होता है कि चित्तसे जितनी भावना की गयी, उनमेंसे तीन भागसे अधिक व्यर्थ हो गयीं और उनमें जितनी मानसिक शक्ति व्यय हुई, वह भी व्यर्थ गयी और सिवा इसके उसके कारण मनकी विक्षेपताका स्वभाव और भी अधिक बढ़ गया।

प्रथम है। किन्तु शोक है कि आजकल लोग इसकी प्राप्तिके लिये यत्न नहीं करते और समझते हैं कि बिना शमके प्राप्त हुए भी आत्मज्ञानका लाभ हो सकता है, जो एकदम भूल है। अभ्यास-योगमें अभ्यासद्वारा मनका निग्रह किया जाता है किन्तु उसमें जो न्यूनता रह जाती है उसकी पूर्ति ज्ञान-योगमें पूर्ण वैराग्य-के अभ्याससे की जाती है। मन जिन-जिन विषयोंमें जाता है उन-उन विषयोंको असत् जान और उनका अस्तित्व आत्मापर निर्भर जान वह विवेकसे सर्वत्र आत्मा ही देखता है। इस प्रकार मनको एकाग्र ही नहीं किन्तु उपशम करना है और सांसारिक विषयोंसे हटाकर आत्मामें संयोजित करता है। ज्ञान-योगके साधकका मन समुद्रवत् परिपूर्ण, स्थिर, आकाशवत् निर्लेप और अग्निके समान स्वच्छ रहना चाहिये तथा विषयोंके संयोग-वियोगसे क्षुभित और विचलित नहीं होना चाहिये। शम-प्राप्त साधक मनको वैसी ही-वैसी ही भावनाओं-के सोचनेमें लगावेगा जिससे संसारका उपकार हो, हानि न हो और उसका कर्तव्य पूर्ण हो। ऐसा साधक अपने मनको आत्मा, जीव, माया, परमात्मा, परोपकार और अन्य सृष्टि-सम्बन्धी गम्भीर विषयोंके विचारनेमें विशेषकर लगावेगा और मनको एकाग्ररूपसे लगातार गम्भीर विषयोंके सोचनेमें प्रवृत्त करेगा; वह बड़े-बड़े तर्कके उत्तम-से-उत्तम विषयोंको विचारा करेगा, जिससे चित्त अधिक समयतक उस एक विषयमें लगा रहेगा; सूक्ष्म युक्तियोंका भी विचार किया करेगा और उसीमें मनको ऐसा एकाग्र कर देगा जिससे अन्य

किसी ओर नहीं जा सके। ऐसा करनेसे उसकी बुद्धि पवित्र और तीक्ष्ण होगी और इससे विज्ञानमय कोशकी उन्नति होगी जो परमावश्यक है।

मनका यथार्थ निग्रह आत्मानात्माके विवेकद्वारा ही सम्भव है। मनको अनात्मा और अपनेको उससे पृथक् आत्मा मानकर ही आत्मशक्तिसे निग्रह सम्भव है। जैसा कि गीताका उपदेश है (३।४३)। मनमें काम (भोग), क्रोध, लोभ, मोह, मान, मत्सर, ईर्ष्या, विक्षेप आदि-सम्बन्धी भावना अथवा संकल्प आनेसे उनको शत्रु-पक्ष (मायिक मलिन रज-तम) से हानि करनेके निमित्त आये हुए जान उनका आदर न कर तिरस्कार करे और शीघ्र ही मनसे हटा दे। विवेकद्वारा मनको समझावे कि उसको इन मलिन वासना और कुत्सित भावनाद्वारा अपनेको कलुषित नहीं करना चाहिये और इनके बदले सदा शुद्ध, पवित्र, आवश्यक और सर्व-हित-भावनामें प्रवृत्त रहना चाहिये। इस प्रकार विवेक-विचाररूपी खड्गसे मनकी कुत्सित रज-तमात्मिका आकांक्षाओंसे लड़ना चाहिये और आत्मबलसे उनपर विजय प्राप्त करना चाहिये। कथा है कि दक्षिण-देशके एक प्रसिद्ध ज्ञानीको, जो कद्दूकी तरकारीकी विशेष चाह रखते थे, उनकी एक श्रद्धालु सेविकाने भोजनके निमित्त निमन्त्रण दिया। उनकी प्रवृत्तिके अनुसार उसने कद्दू-की तरकारी बनायी, किन्तु भूलसे मीठे कद्दूके बदले तीते कद्दूको मीठा जान उसका व्यवहार किया। जब ज्ञानीने चखनेपर उसे तीता पाया, तो उन्होंने अपने मनसे कहा—'रे मन!

तू कद्दूपर विशेष आसक्त था आज उस आसक्तिका यह परिणाम हुआ कि तुझे तीता कद्दू मिला। अतएव तुझको इस तीतेको भी खाना चाहिये जिसमें तेरी यह कुत्सित आसक्ति छूटे और यह ज्ञान हो कि आसक्तिका परिणाम अवश्य कष्ट होता है। इस प्रकार अनात्म-मनसे अपनेको पृथक् आत्मा जान मनको शासन करनेके लिये उन्होंने सम्पूर्ण तीते कद्दूकी तरकारीको चुपचाप खा लिया। उसको निःशेष कर खानेपर सेविकाने समझा कि तरकारी परम रुचिकर होनेके कारण सब खायी गयी और ऐसा समझ थोड़ी और लाकर उसने परोस दी। ज्ञानी फिर मनको पूर्ववत् समझाकर उसको भी शान्तभावसे खा गये। जब सेविकाने स्वयं उसको खाकर तीता समझा तो शोकित होकर क्षमा माँगी, जिसपर ज्ञानीने कहा कि तीते कद्दूकी तरकारी बनाकर तूने मेरा बड़ा उपकार किया और इसीके कारण मेरे मनने कद्दूकी तरकारीकी चाहको त्याग किया। इसी प्रकार अपनेको मनसे पृथक् मान मनकी विविध वासनाओंकी पूरी समीक्षा कर कुत्सित वासनाओंको निर्मूल करना चाहिये।

यथार्थमें सब कर्मोंका प्रवर्तक मन ही है। इन्द्रिय, शरीर आदि तो केवल उपादानमात्र हैं। लिखा है—

तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम्॥ ४॥
(मनु० अ० १२)

मनसैव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम्।
येनैवाऽऽलिङ्गिता कान्ता तेनैवाऽऽलिङ्गिता सुता॥

पुरुष जैसा मनमें सोचता है, वैसा ही बोलता है और जैसा बोलता है वैसा ही कर्म करता है। देह-सम्बन्धी तीन प्रकारके (उत्तम, मध्यम और अधम) और दस लक्षणोंसे युक्त तीनों (मन, वचन, शरीर) अधिष्ठानोंके आश्रित कर्मोंका प्रवर्तक मन है, यह जानो। मनसे ही पाप किया जाता है, शरीरसे नहीं—क्योंकि जिस (त्वचा) से आलिङ्गन भार्याका किया जाता है उसीसे अपनी कन्याका भी किया जाता है। अतएव मनका निग्रह मुख्य है। श्रीमद्भागवत-पुराणका वचन है—

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतानि कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥४६॥
(स्कं० ११ अ० २३)

दान, नित्य-नैमित्तिक स्वधर्म, नियम, यम, शास्त्राध्ययन, उत्तम व्रतादि कर्म आदि सब साधनाएँ मनोनिग्रहके ही निमित्त हैं, क्योंकि मन-निग्रह ही परम योग (अन्तिम लक्ष्य) है।

मन उभयात्मक है। मनकी भोगात्मक इन्द्रियोन्मुख प्रवृत्तिसे बन्धन होता है और आत्मोन्मुख प्रवृत्तिसे मोक्ष होता है।

जहाँ ऐसा वाक्य है कि मनसे आत्माकी प्राप्ति नहीं होती है वहाँ कामात्मक मनसे तात्पर्य है और जहाँ ऐसा वाक्य है

कि मनसे प्राप्ति होती है वहाँ निर्वासनिक, शान्त और दान्त मनसे अभिप्राय है। बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में लिखा है 'मनसैवानु-द्रष्टव्यम्' अर्थात् मनसे आत्मा देखा जाता है।

दम

तीसरी साधनामें दूसरा दम है जिसका अर्थ शरीर और इन्द्रियोंको वश करना है। दम शमका परिणाम है, मनके वश होनेसे शरीर और इन्द्रिय सुगमतासे वश हो जाते हैं। किसी कर्मके करनेके पूर्व उसकी इच्छा मनमें होती है, अतएव कर्म संकल्पका परिणाम है, इसलिये जिसके मनमें कोई दुष्ट वासना और संकल्प नहीं आते, उसके द्वारा कोई निन्दनीय कर्म हो नहीं सकता। इसी निमित्त साधक मनकी शुद्धिपर विशेष ध्यान देता है, किन्तु साधारण लोग केवल साधारण वाह्य आचरणकी ओर दृष्टि रखते हैं, मनकी पवित्रताकी ओर नहीं, जो बड़ी भूल है। जिसका मन पवित्र है उसका आचरण भी अवश्य पवित्र होगा। किन्तु मनको शुद्ध करनेका यत्न न कर केवल वाह्य आचरणके शुद्ध करनेका यत्न करनेसे कोई कृतकार्य नहीं हो सकता है *। इन्द्रिय जब कभी कुत्सित कर्म करनेकी ओर झुके

---

* किसी-न-किसी इन्द्रियके विषय-भोगके ही लिये लोग पाप करते हैं, अतएव इन्द्रिय-निग्रह करनेसे मनुष्य पाप करनेसे बचता है। कोई राजदण्डके भयसे, कोई अपयशके भयसे, कोई नरक-यातनाके भयसे, कोई शास्त्रमें जो दुष्ट-कर्मोंके बुरे फल लिखे हुए हैं उनके भयसे और कोई दुष्ट-कर्मके बुरे फल जो अन्यको भोगते देखते हैं उनके भोगनेके भयसे कभी-कभी पाप-कर्म नहीं करते, यद्यपि उन लोगोंको

तो उस कर्मको हठात् नहीं करके विचार करना चाहिये और विचारद्वारा उस कर्मको सृष्टिके ईश्वरीय नियमके विरुद्ध एवं हानिकारी निश्चयकर, उसके परिणामको असत्य और दुःखद जान उसको कभी नहीं करना चाहिये। दुष्ट-कर्मके

इन्द्रियाँ अपने दुष्ट विषयोंकी प्राप्तिकी ओर उत्तेजित करती हैं किन्तु केवल भयके कारण वे उसमें प्रवृत्त नहीं होते। अतएव ऐसी अवस्थामें उन लोगोंमें इन्द्रिय-निग्रह नहीं हुआ और न वे उसका पूरा फल ही पा सकते हैं, क्योंकि उनमें आन्तरिक वासना और मलिनता बनी ही रहती है। तपस्वी उपवासादि शारीरिक तपद्वारा इन्द्रियको प्रबल नहीं होने देते किन्तु वह भी यथार्थ इन्द्रिय-निग्रह नहीं है, क्योंकि तप-कालमें यद्यपि इन्द्रियकी प्रबलता जाती रहती है किन्तु वासना दबी हुई अन्तरमें बनी रहती है, अतएव कुसङ्गमें पड़नेसे अथवा विषयके संयोगसे वह प्रायः प्रकट हो जाती है। जिन लोगोंका चित्त केवल इन्द्रियके विषयसे अलग रहनेके कारण विषयकी ओर नहीं जाता, उनको भी दान्त नहीं कह सकते, क्योंकि उनमें भी वासना बनी रहती है और विषयके संसर्गसे प्रकट हो जाती है। ज्ञानयोगमें विचारद्वारा मनको शुद्ध करनेसे और विषयोंको असत् और उनके कामासक्त संसर्गको अन्तमें दुःखदायी जाननेसे तथा इस अनुभवकी दृढ़ता होनेसे यथार्थ इन्द्रिय-निग्रह हो जाता है एवं वासना चित्तसे उखड़ जाती है। ज्ञानयोगका साधक विचार-विवेकद्वारा मनसे भी आत्माको पृथक् समझता है, अतएव कर्तव्य-कर्ममें भी जो मन-शरीरद्वारा कार्य करता है, उसमें भी अहंभाव नहीं रखनेके कारण इन्द्रियके विषयोंमें वह आसक्त नहीं होता और आसक्ति न रखनेके कारण इन्द्रियाँ उसको क्षुभित नहीं कर सकतीं। ऐसा साधक प्रत्येक कर्मके करनेके समय अपने (आत्मा) को उस कर्मसे असङ्ग समझता है जिसका कर्त्ता वह मनको जानता है, आत्माको नहीं। अत-

संकल्पके आनेपर शीघ्र तदनुसार कर्म नहीं कर, रुककर विचार-में प्रवृत्त होनेसे दुष्ट भावनाके वेगका ह्रास हो जाता है और तदनन्तर उसकी प्रवृत्ति जाती रहती है।

दमकी प्राप्तिके लिये इन्द्रियोंको निग्रहकर अपने वशमें करना चाहिये। इनमें जिह्वा और जननेन्द्रियका निग्रह बड़ा कठिन है किन्तु वही मुख्य है। सात्त्विक आहार करना चाहिये। राजसिक और तामसिक आहार जो प्रायः बड़े स्वादिष्ठ होते हैं और जिनकी ओर विशेष प्रवृत्ति होती है, उनका त्याग करना चाहिये। आहारकी शुद्धि बिना इन्द्रिय-निग्रह अथवा चित्तकी शुद्धि कठिन है। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

> इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
> वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥
>
> तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
> न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥
>
> (११।८।२०-२१)

एवं उसमें किञ्चित् भी आसक्त नहीं होता। वह मन और इन्द्रियके कार्योंमें आसक्ति नहीं रखता। मनुका वचन है—

> न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
> विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥
>
> (अ० २ श्लो० ९६)

विषयोंमें आसक्त इन्द्रियाँ जैसे ज्ञान (विचार) के द्वारा सब समयमें रोकी जा सकती हैं, वैसे केवल विषय-त्यागके द्वारा नहीं रोकी जा सकतीं।

निराहारसे अन्य इन्द्रियोंका निग्रह होता है किन्तु जिह्वाका नहीं, जो निग्रह भोजन करनेपर रसके कारण नहीं रहेगा। अतएव भोजन रसास्वादके निमित्त न कर केवल शरीर-रक्षाके लिये ओषधिके समान करना चाहिये। अन्य इन्द्रियोंका जीतनेवाला जबतक रसना-इन्द्रियको न जीते, तबतक वह जितेन्द्रिय नहीं है। रसना-इन्द्रियके जीतनेसे सब इन्द्रियोंका जीतना सम्भव है। श्रुतिका वचन है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

शुद्ध भोजनसे बुद्धि शुद्ध होती है, उससे चित्तकी स्थिरता और शुद्धि होती है जो सब बन्धनोंको नाश करती है। इन्द्रिय-निग्रह, जिसका दूसरा नाम ब्रह्मचर्यका अभ्यास है, ज्ञानोपलब्धिमें परम मुख्य साधना है। लिखा है—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥३॥ (छा० प्र० ८ ख० ४ प्र० ३)

इस हेतु जो इस ब्रह्मको ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त करते हैं उन्हींको यह ब्रह्मलोक मिलता है और उन्हींको सब लोक-लोकान्तरोंमें स्वेच्छाचार विहार होता है। गृहस्थ भी यदि केवल सन्तानार्थ ऋतु-कालमें ही अपनी स्त्रीके साथ सङ्गम करे तो वह ब्रह्मचर्यके विरुद्ध नहीं है। मनुका वचन है—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥
(अ० ३।५०)

ऋतुके प्रथम चार रात्रि, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि, इन छः रात्रिके साथ अन्य और निन्दित आठ रातको त्यागकर सोलह रातोंमें केवल पर्वरहित (चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा, संक्रान्तिको त्यागकर) दो रातमें जो स्त्री-सङ्गम करता है, वह जहाँ कहीं रहकर भी ब्रह्मचारी बना रहता है। इस विधिसे सिवा मनमाना अविहित कामात्मक स्त्री-सङ्गम बड़ा अनर्थकारी है। श्रीमद्भागवत-पुराणका वचन है—

> पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि।
> स्पृशन्करीव बध्येत करिण्या अंगसङ्गतः॥
> (११। ८। १३)

भिक्षु पगसे भी काठकी भी स्त्रीकी मूर्तिके स्पर्श करनेकी इच्छा न करे, यदि करेगा तो जैसे हाथी हथिनीके स्पर्शके कारण बँधता है उनको भी वही दशा होगी। जबकि भिक्षुके निमित्त ऐसी सावधानीकी आवश्यकता है तो अन्यके लिये तो बहुत विशेष होनी चाहिये।

कर्म और अभ्यास-योगके समय साधक इन्द्रियोंको इच्छा-शक्तिद्वारा दमन करता है जिससे इन्द्रियाँ दब जाती हैं किन्तु पूर्ण निग्रह नहीं होता। ज्ञानयोगका साधक विवेक, वैराग्य और शमके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह करता है जिसके कारण उसे विशेष सफलता होती है। लिखा है—

> इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥
(गी० ३ । ४२-४३)

देह आदि परिच्छिन्न बाह्य-पदार्थसे इन्द्रिय ऊपर (सूक्ष्म) है, इन्द्रियोंसे ऊपर मन, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे आत्मा ऊपर और सूक्ष्म है ॥४२॥ हे महाबाहो ! इस भाँति बुद्धिसे परे आत्माको जान उसके द्वारा मनको निश्चल करके दुःखसे जीतनेयोग्य कामरूप शत्रुको मारो ॥४३॥ ज्ञानयोगमें इन्द्रिय-निग्रह मुख्यकर आत्मा-अनात्माके विवेक और उससे प्राप्त वैराग्य और चित्त-शुद्धिद्वारा होता है। साधक विवेकद्वारा अपनेको इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे विलक्षण और उच्च सत्, शान्त शुद्ध आत्मा मानकर अपनेसे पृथक् और विरुद्ध गुण-धर्मवाले इन्द्रियादिको असत् जान आत्मबलसे उनका निग्रह करता है। वैराग्यद्वारा विषयासक्तिसे चित्तके मुक्त होनेपर मनको शम अर्थात् समाहित करनेपर इन्द्रियोंकी बहिर्मुख प्रवृत्ति तो रुकती है किन्तु आभ्यन्तरिक वासना बनी रहती है जो विवेकके बलसे बुद्धिके शुद्ध होनेपर और बुद्धिकी निश्चयात्मिका धारणासे शुद्ध आत्माकार-वृत्तिके स्थायी होनेपर ही क्षीण होती है। इसप्रकार शुद्ध बुद्धिसे इन्द्रियोंकी विषयासक्तिका निग्रह होता है। इन्द्रिय-निग्रहके निमित्त कुसंसर्ग-वर्जन और कुत्सित विषयको स्मरणमें भी नहीं आने देना परमावश्यक है, क्योंकि विषयोंका स्मरण पतनका मुख्य कारण है (गी० २। ६२-६३)

मन अथवा इन्द्रिय-निग्रहमें प्रथम उपाय दृढ़ संकल्प और

अनवरत प्रबल इच्छा है, जिसका विस्मरण कदापि नहीं होना चाहिये और सफलता-लाभ नहीं होनेपर भी निरन्तर पुरुषार्थ करते ही रहना चाहिये। अधिकांश लोगोंमें दमकी प्रबल इच्छाका अभाव रहता है और इच्छा रहनेपर भी उसका प्रयोग अवसर आनेपर नहीं किया जाता। इसी कारण उन्हें दमकी प्राप्ति नहीं होती।

इस भाँति इन्द्रियको विचारद्वारा कुत्सित कर्म करनेमें रोकनेसे इन्द्रिय-दमन हो जाता है। इन्द्रियाँ मनुष्यको बहिर्मुख बना विषयोंमें सन्निवेशित कर फँसाती हैं किन्तु ज्ञान-मार्गका लक्ष्य आत्मा है, जो द्रष्टा है और द्रष्टा होकर दृश्यको निरोध करता है, इसलिये इन्द्रियोंको वश किये विना आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। महाभारत शान्तिपर्वमें लिखा है—

तपो निःश्रेयसं जन्तोः तस्य मूलं शमो दमः।
तेन सर्वानवाप्नोति यान्कामान्मनसेच्छति॥

मनुष्यको तपस्यासे मोक्ष प्राप्त होता है जिसका मूल मन और इन्द्रियका निग्रह है। उससे जो इच्छा करता है वही पाता है। देव, मनुष्य और असुर ये प्रजापतिके पुत्र उनके निकट ब्रह्मचर्य अवलम्बन करके उनसे उपदेश पानेके प्रार्थी हुए। प्रजापतिने उपदेश किया 'द-द-द' तीन वार 'द' अर्थात् दाम्यत, इन्द्रिय और मनका संयम करो, 'दत्त' दान अर्थात् परोपकार-रूपी कष्ट अपनेपर लो और 'दयध्वम्' सबपर दया करो। यह बृहदारण्यक-उपनिषद्की कथा है।

उपरति

तृतीय साधनमें तीसरी उपरति है। उपरतिका मुख्य अर्थ सब प्रकारकी भोगात्मक कामनाओंसे उपराम और इस कारण उनकी प्राप्तिके निमित्त सकाम कर्मसे निवृत्त होना है। इस अवस्थामें साधक केवल इन्द्रियोंके कामात्मक विषयोंसे स्पृहा त्यागता है इतना ही नहीं; किन्तु यश, मान, बड़ाई, कीर्ति आदि जैसी मानसिक वासनाओंका भी त्याग करता है। इन सबको अनात्म और नश्वर जान, इनकी कदापि इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार केवल शरीरकी शोभाके लिये अथवा बड़प्पनके लिये अनावश्यक अथवा मूल्यवान् वस्त्रका प्रयोग, विशाल भवन, दिखावटी वाहन आदिकी कदापि न चाह करता और न केवल दिखावटके लिये इनका व्यवहार करता है। वह केवल कर्तव्य-पालन और शरीर-यात्राके लिये जो आवश्यक भोजन, वस्त्र, गृह, वाहन, द्रव्य, पदार्थ आदि हैं उन्हीं-का बिना आसक्तिके व्यवहार करता है। उपरतिका और भी एक विशेष आवश्यक भाव यह है कि दूसरेके धर्म, स्वभाव, क्रिया, मत, सम्प्रदाय आदिको अपनेसे भिन्न होनेपर भी सहन कर लेना है। साधक उनको द्वेष-दृष्टिसे नहीं देखता। जो अपने-जैसा विश्वास नहीं रखते, अपने-जैसे आचरण नहीं चलते और भिन्न प्रकारके संसर्गमें रहते हैं, उनको अपनेसे भेद रहनेके कारण घृणा नहीं करना और प्रसन्नतापूर्वक भेदका सहन करना उपरति है। जितने सम्प्रदाय, धर्म, व्यवहार और भेष हैं, उनको अपनेसे भिन्न होनेपर भी ऐसा साधक द्वेषरूपसे

नहीं देखता, क्योंकि वह उन सबके आन्तरिक तात्पर्यको जानता है और समझता है कि यथार्थमें ये सब एक ही परम तत्त्वके भिन्न-भिन्न रूप हैं। जब उनके आभ्यन्तरिक तत्त्वके रहस्यके मर्मपर प्रकाश मिलेगा, तब बाह्य-भेदके रहते भी अन्य सिद्धान्तके साथ एकता प्रकट होगी और भेद-भाव जाता रहेगा। वह यह भी समझता है कि कोई जीवात्मा बालक, कोई युवा और कोई वृद्धके समान है, अतएव इनके विश्वास, साधना और क्रिया-कलापमें भेद अवश्य रहना ही चाहिये। ऐसा साधक किसीकी कभी निन्दा नहीं करता, वह अपनेसे छोटेका बुरा आचरण देख न घृणा करता और न अपनेसे बड़ोंका विशेष ज्ञान और समृद्धि देख विषाद अथवा ईर्ष्या करता है। उसकी प्रकृति उदार रहती है। भेद-भावकी बुराई उसमें नहीं रहती। आजकल इस गुणके अभावके कारण दूसरे व्यक्ति अथवा सम्प्रदायके प्रति असहिष्णुता, द्वेष, असह्य भेद-भाव आदिके कारण बहुत बड़े अनर्थ भी व्यक्ति और समाजके प्रति हो रहे हैं, जिनका रुकना समाजके कल्याणके लिये परमावश्यक है। उपरतिके भावसे ही यह रुकेगा।

तितिक्षा

तीसरेका चौथा साधन तितिक्षा है। तितिक्षासे तात्पर्य यह है कि जब कभी कोई कठिनाई, दुःख अथवा असुविधा आन पड़े तब उसको धीरजसे सह लेना। न किसीपर क्रोध अथवा अमर्ष करना और न विषाद करना। क्षमा, दया,

परोपकार, समता, प्राणीमात्रमें प्रेम आदिके अभ्याससे तितिक्षाकी प्राप्ति होती है। तितिक्षाप्राप्त साधकको जो कुछ हानि-लाभ और सुख-दुःख अपनेसे अथवा किसी अन्यद्वारा होते हैं, उन सबको वह अपने प्रारब्ध (पूर्व-जन्म-कृत) कर्मका फल समझता है, इसलिये वह दुःख पानेके कारण न क्रोध अथवा क्षोभ करता है और न विचलित होता है और लाभ होनेपर न अहङ्कार अथवा हर्ष प्रकाश करता है। वह समझता है कि ऐसा कुछ भी उसको नहीं हो सकता जो उसके किये कर्मोंका फल न हो। अतएव वह सुख-दुःखमें समान रहनेकी चेष्टा करता है। सुख अथवा दुःख उसको अपने मार्गसे हटा नहीं सकते। कितने ही विघ्न और कठिनाई उसपर क्यों न आन पड़े और वह कैसी ही बुरी अवस्थामें क्यों न पड़ जाय* तथापि

---

* जो साधक राजविद्याके मार्गका अनुसरण करता है, जिसके कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्ति-योग भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं, उसके अनुसरण करनेसे वह सरल किन्तु अत्यन्त कठिन मार्गसे जाना चाहता है जिसके पूरा करनेमें साधारण लोगोंको टेढ़ा और घुमाववाले मार्गसे जानेके कारण कई लाख वर्ष लगते हैं। अतएव उन सञ्चित कर्मोंके फल जो साधारण रीतिसे चलनेसे कई जन्मोंके बाद आते, वे सब राजविद्याके साधकको शीघ्र-शीघ्र इसी जन्ममें आने लगते हैं, क्योंकि उस साधकका अधिक जन्म संसृतिके निमित्त नहीं होता। अतएव जो कुछ सञ्चित कर्म उसके कर्मके खातेमें उसके नामसे बाकी लिखे होते हैं उसको उसे शीघ्र-शीघ्र इतने थोड़े कालमें जबतक कि उसे कर्मपाशमें रहना है सधाना चाहिये। इस निमित्त ऐसा साधक संसारकी दृष्टिसे कुछ अधिक कठिनाईमें पड़ जाता है किन्तु तथापि वह अन्तरसे ऐसा जानकर प्रसन्न ही रहता है कि मेरे दुष्ट-कर्मोंके फल शीघ्र-शीघ्र समाप्त होते जाते हैं।

अपने कर्त्तव्य-पालन करनेमें त्रुटि कदापि नहीं करता और न साधनके अभ्याससे कभी मुँह मोड़ता है। ऐसा नहीं कि उसको दुःख-सुखका अनुभव न होगा, किन्तु ऐसा होगा कि कोई सुखद अथवा दुःखद सांसारिक घटना उसको क्षुभित नहीं कर सकेगी और उसे साधन और लक्ष्यसे भ्रष्ट नहीं कर

यथार्थमें ऐसे सञ्चित कर्मके दुःखके आनेसे साधकको बड़ा लाभ होता है। क्योंकि इन कर्मोंके फल जो साधारण प्रकारसे नियत समयपर आनेसे जितने तीव्र और दीर्घ होते हैं, उससे उनकी तीव्रता और दीर्घता दोनों बहुत ही कम इस अवस्थामें हो जाती हैं और अल्प समयमें और अल्प मात्रामें भोगकर उनसे पूरा छुटकारा हो जाता है जो अन्यथा सम्भव नहीं था। सांसारिक लोग अनेक समयतक दुःख-सुखके भोगके फन्देमें फँसे रहेंगे किन्तु तीव्र साधकके दुःखका शीघ्र अन्त हो जाता है और तबसे फिर उसे कभी दुःख नहीं होता। जब साधकको दुःख और कठिनाई आना प्रारम्भ हो तो उसको समझना चाहिये कि वह सूक्ष्म-मार्गके सम्मुख पहुँचा है और ऐसे पहुँचनेके कारण कर्म-देवताओंका ध्यान उसके ऊपर पड़ा है जो उसके सञ्चित कर्मोंके फलको शीघ्र भुगतनेके लिये भेज रहे हैं, जो वह चाहता था। साधक अवश्य ऐसी चाह करता है। अनुस्मृतिका वचन है—

पूर्वदेहे कृता ये मे व्याधयः प्रविशन्तु माम्।
अर्दयन्तु च मां दुःखान्ऋणं मे प्रतिमुच्यताम्॥
अप्रतिष्ठन्तु मां सर्वे व्याधयः पूर्वसञ्चिताः।
अनृणो गन्तुमिच्छामि तद्विष्णोः परमं पदम्॥

पूर्व-शरीरसे जो मैंने दुष्ट कर्म किये, वे व्याधिरूपमें मेरे शरीरमें प्रवेश करें और मुझको दुःख प्रदान करें ताकि मेरा पूर्वका ऋण सब जाय। पूर्वके सञ्चित सब व्याधियाँ मेरे निकट आवें, क्योंकि मैं बिना कोई ऋण छोड़े श्रीभगवान्के परमपदमें प्रवेश करना चाहता हूँ। अतएव दुःखको अपने कर्मका फल जान वह तनिक भी उद्विग्न नहीं

सकेगी। श्रीमद्भागवत-पुराण स्कं० ११ अ० १६ श्लोक ३६ में लिखा है कि 'तितिक्षा दुःखसम्मर्षो' अर्थात् दुःखका प्रसन्नतासे सहना तितिक्षा है। सुख और दुःखको वह दूसरोंकी अपेक्षा अधिक तीव्रताके साथ अनुभव कर सकता है, किन्तु सुख-दुःख उसको अपने कर्त्तव्य-पालनसे हटा नहीं सकते और उसके चित्तकी शान्ति और स्थिरताका ह्रास नहीं कर सकते, जो विचार, विवेक, वैराग्य और शम-दमादिद्वारा उसे प्राप्त हुई है। विचार, विवेक और वैराग्यके निरन्तर अभ्याससे तितिक्षाकी प्राप्ति होती है। साधक केवल दुःखहीको सहर्ष सहन करता, सो नहीं किन्तु सुखमें भी अनासक्त रह वह उसमें भी न आसक्ति करता है और न लिप्त होता है। इसी प्रकार निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, हानि-लाभ, यश-अपयश आदिमें भी समान रहता है। केवल सहन करना तितिक्षा नहीं है किन्तु द्वन्द्वके आनेपर क्षुभित न होना और सम—शान्त और प्रसन्न रहना तितिक्षा है।

श्रद्धा

तीसरेका पाँचवाँ साधन श्रद्धा है। गुरु और शास्त्रमें

होता, किन्तु प्रसन्नतासे धैर्यपूर्वक उसको सहन करता है। प्रसन्नतासे और क्षुभित न होकर ऐसे सहनेको भी तितिक्षा कहते हैं। जैसा कि—

सहनं सर्वदुःखानामप्रतिकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते॥

कठिनाइयोंके आनेसे साधकको समझना चाहिये कि उसकी आन्तरिक परीक्षा हो रही है और उनको वह जितना धैर्यसे सहेगा और क्षुभित और विचलित न होगा उतनी ही उसमें आन्तरिक सामर्थ्य बढ़ेगी और वह उन्नति करेगा।

विश्वास एवं अनुराग और अपनी आत्मशक्तिमें विश्वास होनेको श्रद्धा कहते हैं। साधक तितिक्षाकी प्राप्ति-कालमें देखता है कि कितने कठिनाईरूप विघ्नोंके आनेपर भी वह अदृश्य श्रीसद्गुरु * की कृपादृष्टिसे मार्गसे विचलित न हुआ। अतएव उसे उनमें विशेष विश्वास होता है और वह समझता है कि शास्त्र और गुरुके आदेशानुसार चलनेसे वह आत्मशक्तिद्वारा अपने लक्ष्यको अवश्य प्राप्त करेगा। वह समझता है कि परा अर्थात् विद्या-शक्ति और विज्ञानमय आध्यात्मिक शक्तियाँ जो उसमें अभी गोप्य हैं उनका आत्म-चिन्तनद्वारा प्रकाश करके उनके द्वारा मायाके गुणोंको वह अवश्य पराभव करेगा। गीताका वचन है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। †
(४। ३९)

तथा—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७। ३)

जितेन्द्रिय, तत्पर, श्रद्धावान् साधक ज्ञानकी प्राप्ति करता है। पुरुष जैसी श्रद्धा रखता है वह स्वयं वैसा ही होता है, क्योंकि श्रद्धा उसका स्वत्व है।

---

* श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति इष्टकी कृपासे होती है, अन्यथा नहीं। श्रीसद्गुरु-प्रकरणमें इसका वर्णन होगा।

† इस ग्रन्थमें गीतासे श्रीमद्भगवद्गीतासे तात्पर्य है जिसके मूल वाक्यके प्रमाणके परिचयके निमित्त ब्रैकेटमें केवल अंक रहेगा जिसमें प्रथम अङ्क अध्यायकी संख्या और उसके बाद लकीर देकर श्लोककी संख्या रहेगी और ऐसा सङ्केत केवल गीताके निमित्त रहेगा।

समाधान

तीसरेकी छठी साधना समाधान है। समाधान मनके समभाव, शान्तिभाव और स्थिरताको कहते हैं जो कि ऊपर कही हुई साधनाओंके प्राप्त होनेपर होता है। इस अवस्थामें साधकका चित्त स्वाभाविक ही ऐसा शान्त और स्थिर हो जाता है कि दुःख-सुख, हानि-लाभ इत्यादि इन्होंमें वह समान ही रहता है और इनके आनेपर अनायास ही कभी उद्विग्न नहीं होता। समाधानका एक मुख्य भाव यह भी है कि साधक अपने लक्ष्य आत्म-प्राप्तिको कदापि न भूले और इसकी प्राप्तिके लिये सदा सावधान, सतर्क और सजग रहकर चित्तको निरन्तर उसीमें अनुरक्त रक्खे, अन्य ओर जाने ही न दे।

मुमुक्षुता

चौथा मुख्य साधन मुमुक्षुता है। मुमुक्षुता प्रकृति-बन्धनसे छूटनेकी प्रबल इच्छा और आत्मस्वरूप और परमात्मामें स्थिति पानेका उत्कट अनुराग है जो सबके लिये आवश्यक और परम कर्तव्य है और जिसके अभाव और पूर्तिके लिये ही बारम्बार जन्म और मरणका कष्ट सहना पड़ता है। यह इच्छा ऐसी प्रबल और पूर्ण व्यापी होनी चाहिये कि इसके सिवा अन्य कोई इच्छा और वासना न रहे और निरन्तर चित्त इसीके साधनमें प्रवृत्त रहे। ऐसी इच्छा थोड़े कालके लिये हो और फिर शिथिल हो जाय तो वह मुमुक्षुत्व नहीं है, सतत चित्तमें रहनेवाली जो प्रबल इच्छा हो और जिसको छोड़के

और कोई मुख्य इच्छा न हो और जिसकी प्राप्तिके लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट और परिश्रम करने और सर्वस्वतक त्याग करनेके लिये प्रस्तुत हो उसको मुमुक्षुता कहते हैं। मुमुक्षुता केवल भावना-मात्र नहीं है, किन्तु सर्वोपरि इच्छा है, इसके लिये आवश्यक त्याग भी इसीके अन्तर्गत है। ये चार साधन आपसमें स्वतन्त्र नहीं, किन्तु इनमें कारण-कार्यका सम्बन्ध है। प्रथमकी प्राप्ति-के बाद ही उसके बादके दूसरे साधनकी प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं।

जब उपर्युक्त साधन-चतुष्टय भलीभाँति प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् जब तीक्ष्ण विवेक और तीव्र वैराग्य-लाभ होते हैं (श्मशान-वैराग्यके समान ऐसा क्षणिक वैराग्य नहीं जो कोई प्रिय वस्तुके वियोगसे अथवा इच्छित पदार्थके न मिलनेसे होता है किन्तु ऐसा स्थायी वैराग्य जो कभी ठण्डा न हो) और शम, दम, तितिक्षा आदिके लाभसे साधक मानसिक और नैतिक उन्नति करता है तभी वह ज्ञानयोगका अधिकारी होता है अन्यथा नहीं। आजकल प्रायः लोग साधन-चतुष्टयकी प्राप्तिके निमित्त यत्न किये बिना ही अथवा साधन-चतुष्टयकी प्राप्तिको सुलभ जान और उनको अपनेमें प्राप्त रहनेकी मिथ्या धारणा रख सीधे ज्ञानकी ही प्राप्ति करना चाहते हैं और केवल सिद्धान्तों-की जानकारीको ही ज्ञान समझ लेते हैं परन्तु ऐसी समझ पूरा भ्रम है और इससे बड़ी हानि होती है। साधन-चतुष्टयकी प्राप्ति होनी बड़ी कठिन है। बिना विशेष पुरुषार्थ किये इनकी सिद्धि नहीं हो सकती। साधकका प्रथम और

मुख्य कर्त्तव्य है कि वह पहले साधन-चतुष्टयकी प्राप्तिके लिये ही विशेष यत्न करे और उसकी प्राप्तिके बाद ही आगे पैर बढ़ावे।

ज्ञानयोगके अधिकारी होनेके लिये सिद्धियोंके प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। किसीको चाहे सिद्धियोंकी प्राप्ति क्यों न हो जाय, किन्तु यदि वह साधन-चतुष्टय-विहीन है तो ज्ञानयोगका अधिकारी नहीं हो सकता। कर्मयोगद्वारा निष्कामभावसे परोपकारी कर्म किये बिना साधन-चतुष्टयकी भी प्राप्ति पूर्णतः नहीं हो सकती। अपरोक्षानुभूतिका वचन है—

> स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
> साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥३॥

अपने वर्ण और आश्रमके धर्मके पालन और तपस्या (इन्द्रियनिग्रह) द्वारा श्रीपरमात्मा—परमेश्वरकी तुष्टि प्राप्त करनेपर ही साधकको वैराग्यादि साधन-चतुष्टय प्राप्त होते हैं।

आचार्यसे उपदेश

साधन-चतुष्टयके प्राप्त होनेपर साधकको ज्ञानोपदेशके लिये ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाना चाहिये और अपनी योग्यतासे उनकी कृपा प्राप्तकर उनके मुखसे उपदेश लेना चाहिये। केवल पुस्तकोंमें तत्त्वके सिद्धान्तोंको पढ़नेसे तत्त्व-ज्ञानसे जानकारी भी नहीं हो सकती। जिस गुरुने आत्माका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया है, उसके मुखसे साधन-चतुष्टयसम्पन्न साधकको, उपदेश मिलनेपर और उसके अनुसार अभ्यास करनेपर ही, ज्ञानकी जागृति सम्भव है। लिखा है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥
(मुण्डकोपनिषद् १ मुण्डक २ खण्ड)

विज्ञानकी प्राप्तिके लिये समिधा हाथमें लेकर अर्थात् विनीत और भक्तिमान् होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके पास जावे। इसके बादके १३ वें मन्त्रका भाव है कि उक्त गुरु यदि उस शिष्यको पूरा प्रशान्त चित्तवाला और दान्त पावे तो ही उपदेश करे। गीतामें लिखा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४। ३४)

तत्त्वदर्शी ज्ञानीके प्रति प्रणाम, जिज्ञासा, सेवाद्वारा ज्ञानकी प्राप्ति करो, क्योंकि तभी वे उपदेश करेंगे। अब यहाँ तत्त्वके कतिपय मुख्य सिद्धान्तोंका केवल दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

ज्ञान और अज्ञानका लक्षण

भगवद्गीता अध्याय १३ में ज्ञानका लक्षण यों है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

नम्रता, दम्भ न करना, किसीको पीड़ा न पहुँचाना, सहनशील होना, सरल होना, आचार्यकी सेवा-भक्ति करना, भीतर-बाहर शौच रखना, स्थिरता, मन और इन्द्रियका निग्रह ॥७॥ श्रोत्रादि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त रहना, अहङ्कारसे रहित रहना, जन्म-मरण-बुढ़ापा और व्याधिके दुःख और दोषका बारम्बार विचार करना ॥८॥ किसीमें आसक्ति न रखना, पुत्र, स्त्री, गृहादि पदार्थोंमें संग, ममता और आसक्ति नहीं रखना, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा समान-चित्त रहना ॥९॥ मुझ परमात्मामें अनन्य-चित्त रखकर ऐकान्तिक भक्ति करना, एकान्त स्थानमें रहना, विषयी पुरुषोंकी सभाके संसर्गसे बचे रहना ॥१०॥ अध्यात्मज्ञानमें सतत निष्ठा रखना और तत्त्वज्ञानके उद्देश्यका विचार करना—यह सब ज्ञान है और इसके विरुद्ध जो कुछ है वह अज्ञान है ॥११॥ महाभारत शान्तिपर्व अ० १५९ में अज्ञानका ऐसा लक्षण लिखा है—

रागः द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानता ।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥ ६ ॥
इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता ।
अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानाञ्चैव याः क्रियाः ॥ ७ ॥

राग, द्वेष, मोह, इन्द्रियके विषय-भोग-जनित हर्ष, शोक, अभिमान, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, विषयाभिलाषा, द्वेष, ताप, दूसरेकी वृद्धि देख परिताप करना और पाप कर्म—

यह सब अज्ञान है। ज्ञानके विषयमें भगवद्गीता अ० १३ में श्रीकृष्ण भगवान्का वाक्य है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥२॥

हे कौन्तेय! इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं और इसका जो ज्ञाता है उसको विद्वान् क्षेत्रज्ञ कहते हैं॥१॥ हे भारत! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूप मुझ (परमात्मा) को जानो, क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) का जो ज्ञान है वही मेरे मतमें ज्ञान है॥२॥ भगवद्गीता अ० १३ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका वर्णन यों है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥६॥
यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥२६॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥२९॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

पञ्चमहाभूत (आकाशादि), अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, श्रोत्रादि दश इन्द्रियाँ, एक मन, ज्ञानेन्द्रियोंके गन्धादि पाँच विषय ॥५॥ इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, ज्ञानरूप मनकी वृत्ति और धृति ये अपने विकारसहित संक्षेपसे क्षेत्र हैं ॥६॥ हे भरत-र्षभ! जो कुछ स्थावर-जङ्गम पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं ऐसा जानो ॥२६॥ सम्पूर्ण कार्य केवल प्रकृतिद्वारा किये जाते हैं और आत्मा कुछ भी नहीं करता—ऐसा जो देखता है वही यथार्थदर्शी है ॥२९॥ जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण किसीसे भी लिप्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मा भी देहमें सर्वत्र होनेपर भी (देहके गुण-दोषोंसे) लिप्त नहीं होता ॥३२॥ हे भारत! जिस प्रकार सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्रमें रहनेवाला आत्मा सम्पूर्ण शरीरोंको प्रकाशित करता है ॥३३॥ जो इस प्रकार ज्ञानरूप चक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तर (भेद) को और प्रकृतिसे भूतोंके मोक्ष होने (के उपाय) को जानते हैं वे परमपदको प्राप्त करते हैं ॥३४॥ ऊपरके प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही ज्ञान-मार्गका मुख्य लक्ष्य है। इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति-पुरुषके समष्टि-व्यष्टि-भावके स्थूल वर्णनके लिये पुस्तकान्त-में मानचित्र (नकशा) दिया गया है। यद्यपि सृष्टि-क्रम-जैसे सूक्ष्म विषयका वर्णन चित्रद्वारा कदापि हो नहीं सकता, तथापि

प्रारम्भिक परिचयके लिये चित्रद्वारा समझानेकी चेष्टा की गयी है किन्तु पाठक कदापि यह नहीं समझें कि यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय जिसके वर्णनमें शब्द भी संकुचित हो जाता है कदापि चित्रसे प्रकाशित हो सकता है।

परब्रह्म

इस सृष्टिका मूलाधार सर्वोपरि परब्रह्म है जो ऐसा अखण्ड-मण्डलाकार वृत्त (रेखागणितकी भाषामें) है जिसका न कहीं केन्द्र है और न परिधि है। यह आदि-अन्तरहित सबसे परे है और यह यथार्थमें क्या है, इसको श्रुति भी नहीं बता सकती। श्रुति परब्रह्मका वर्णन 'नेति-नेति' कहकर करती है अर्थात् वह न सत् है और न असत्, न जड और न चेतन, न प्रकाश और न अन्धकार, क्योंकि किसी एक महिमाका आरोपण करनेसे उसके विरुद्धका भी अस्तित्व मानना पड़ेगा किन्तु परब्रह्म निर्विशेष है और शुद्ध अखण्ड परम केवल है। यदि इसको सत् कहेंगे तो असत्का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा, चेतन कहेंगे तो जड भी मानना होगा, आनन्द कहेंगे तो निरानन्द भी मानना पड़ेगा किन्तु परम केवल परब्रह्मकी दृष्टिसे सत्-असत्, जड-चेतन, आनन्द-निरानन्द आदि कुछ भी नहीं हैं। यह न ज्ञाता, न ज्ञान और न ज्ञेय है, अतएव यह परम अव्यक्ताव्यक्त है और इसका साक्षात् ज्ञान अथवा प्राप्ति जीवात्माको हो नहीं सकती। यह सबके परे सर्वाधार, निर्विकल्प एक अद्वितीय परम केवल है। इस परब्रह्मपर विश्व कैसे अध्यारोपित है सो पीछे

कहा जायगा। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८, अध्याय २४में श्रीभगवान् मत्स्यने इसका वर्णन यों किया है—

> मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्।
> वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥३८॥

तुम्हारे प्रश्नसे मैं अपने परब्रह्म-पदकी महिमा तुम्हारे निकट प्रकाशित करूँगा, तुम मेरे प्रसादसे उस महिमाको हृदयमें धारण कर सकोगे। स्वामी श्रीशंकराचार्यजी अपने गीता-भाष्यमें लिखते हैं कि 'ब्रह्मणः सर्वविशेषप्रतिषेधेनैव विजिज्ञापयिषितत्वान्नसतन्ना सदुच्यत इति' सब विशेषणोंके निषेधसे ही ब्रह्मका वर्णन होनेके कारण वह न सत् है और न असत्, ऐसा कहा है।

महेश्वर, परमेश्वर

सृष्टिके प्रारम्भकालमें परब्रह्ममें चैतन्य-शक्ति जागृत होती है, जिसको शब्द-ब्रह्म अर्थात् शब्द-रूप शक्तिका व्यक्त होना कहते हैं। इसी शब्द-ब्रह्मके सच्चिदानन्द, महेश्वर, परमात्मा आदिपुरुष अथवा परमेश्वर आदि नाम भी हैं। इस प्रकार परब्रह्मरूप अखण्ड अनन्त वृत्तका मानों महेश्वर केन्द्र है। परब्रह्म वृहत् विन्दुके समान है। जैसे हम लोग विन्दु कितनेके तुल्य है यह नहीं जानते हैं, क्योंकि (एक) अंकके ऊपर विन्दु पड़नेसे दश होता है, दोपर पड़नेसे बीस हो जाता है, दश हजारपर केवल एक विन्दु पड़नेसे एक लाख हो जाता है इसी प्रकार परब्रह्मके महत्त्वको कोई नहीं जान सकता। किन्तु परमेश्वर एकके अंकके समान है जैसा कि एक अंक सब

अंकोंका मूल है। १+१=२, एक और एकका जोड़ दो है। एकके नौ वार एकत्र करनेसे नौ हुआ है, जैसा कि १+१+१+१+१+१+१+१+१=९ । ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड अ० २८ श्लोक २५ में इसका यों वर्णन है—

सृष्ट्युन्मुखेन तद्ब्रह्म चांशेन पुरुषः स्मृतः।

वह परब्रह्म सृष्टिके होनेके समय अंशसे पुरुष हुआ। यह परमेश्वर उस परब्रह्मसे पृथक् नहीं है, एक ही है किन्तु भेद यह है कि अन्तर्मुख अकेला अपने आपमें रहनेके समय वह परब्रह्म है और वही सृष्ट्युन्मुख अर्थात् सृष्टिके उत्पन्न कालमें 'महेश्वर' 'ब्रह्म' अथवा 'परमेश्वर' कहलाता है। यह ब्रह्म अथवा परमेश्वर शक्तियुक्त है अर्थात् उसमें शक्ति जागृति-रूपमें रहती है जो शक्ति प्रलयावस्थामें परब्रह्ममें लीन रहती है। श्रीभगवान्का गीतामें कथन है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४।२७)

मैं उस अविनाशी और अमृत परब्रह्मकी मूर्ति अर्थात् महिमा हूँ जो सनातन धर्म और ऐकान्तिक आनन्दका एकमात्र आश्रय है। यह महेश्वर सत् है अर्थात् तीनों कालमें सदा स्थायी और अव्यय है, यह चित् है क्योंकि सृष्टिका शाश्वत धर्म, सृष्टिके उद्भवका क्रम, नियम और शक्ति उसमें वर्तमान रहती हैं और यह आनन्द है, क्योंकि यह यथार्थ आनन्दका आकर है और इसी

कारण अत्यन्तानन्द, जिसमें कभी कमी नहीं होती या जो कभी लोप नहीं होता, जीवात्माको ईश्वर-प्राप्ति करनेपर ही मिलता है। इस प्रकार मनुष्यके परमोच्च ज्ञानके भी विषय वही हैं। गीतामें इस महेश्वरके विषयमें ऐसा कथन है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
(९। ४-५)

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७। ६-७)

मेरी अव्यक्त मूर्तिसे यह जगत् व्याप्त है, सब भूतगण मेरेमें वास करते हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं वास करता—देखो, ऐसा मेरा व्यक्त भावमें योगैश्वर्य है। मैं सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्तिका आदिकारण और अन्तिम लयका स्थान हूँ। हे धनञ्जय! मुझसे पृथक् कुछ भी इस सृष्टिमें नहीं है। सूत्रमें मालाके दानेके गूँथे रहनेकी भाँति सब-के-सब मुझमें ग्रथित हैं।

सृष्टिका उद्देश्य

सृष्टिकी उत्पत्तिकी अवस्थाका श्रुतिमें यों वर्णन है—

'एकोऽहं बहु स्याम्'

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत। बहु स्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत ॥३॥

(छान्दोग्योपनिषत् प्रपाठक ६ खण्ड २ प्रवाक ३)

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति ।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली २ अनुवाक ६)

एक हूँ, अनेक हो जाऊँ। उस (परमेश्वर) ने इच्छा की कि बहुत प्रजा होवे। तब तेजकी सृष्टि की गयी। तेजने भी इच्छा की कि बहुत प्रजा होवे। तब जलकी सृष्टि हुई। उसने कामना की कि अनेक प्रजा होवे। इसमें ब्रह्मने जो इच्छा की कि मैं अनेक अथवा बहुत प्रजा हो जाऊँ, यही इच्छा-शक्ति सृष्टिका कारण है और यही आदि-संकल्परूप शक्ति सृष्टिको ब्रह्मके अनेक होनेके आदि संकल्पकी पूर्तिके लिये सृष्टिको चला रही है। सृष्टिके उद्देश्यके विषयमें ऐसा कथन है—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् ॥२॥

(बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय १ ब्राह्मण ३)

उस (ईश्वर) ने रमण नहीं किया, क्योंकि अकेले रमण नहीं होता, इसलिये दूसरेकी इच्छा की। यही दूसरी आद्या चिच्छक्ति है जिसने इस रमण-लीलाके निमित्त अनेकका प्रादुर्भाव किया। श्रीमद्भागवतपुराण स्कन्ध ३ अध्याय ५ में भी ऊपरका कारण ही सृष्टिके उद्भवका उद्देश्य कहा गया है जैसा कि—

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः ॥२३॥
स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥२४॥

सृष्टिके प्रथम, द्रष्टा और दृश्य आदि बुद्धियोंसे अज्ञात सब

जीवोंके कारण और नियन्ता, परमेश्वर श्रीभगवान् 'मैं अकेला ही रहूँ' ऐसी इच्छाके कारण अकेले ही थे, दूसरा कोई नहीं था। उस समय अकेले ही प्रकाशमान द्रष्टा परमेश्वरने अन्य कोई दृश्य नहीं देखा। यद्यपि उस समय उनकी माया आदि शक्तियाँ लीन थीं तथापि उनकी बोध-शक्ति जागृत थी, अतः उन्होंने अपनेको न होनेके समान माना। उपर्युक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि सृष्टिकी उत्पत्तिका मुख्य उद्देश्य ऐसे अनेकका उद्भव करना है जो महेश्वरके दिव्य गुण, सामर्थ्य, विभूति आदिको अपनेमें प्रकाशित करे।

दो प्रकृति

ऊपर जो तेज और जलके उद्भवका वर्णन है उसमें ब्रह्मके तेजके ही गायत्री, दैवी-प्रकृति, पराशक्ति, चिच्छक्ति, आदिशक्ति, महाविद्याशक्ति आदि नाम हैं। इसी आद्याशक्तिके उद्भव होनेपर उससे युक्त अर्थात् आबद्ध होकर परब्रह्म महेश्वर होता है। इस शक्तिके ज्ञान (विद्या), चित् (क्रिया) और ज्योति (संच्छक्ति-बल) तीन दिव्य गुण हैं। शक्ति और शक्तिमान्में एकता रहनेके कारण महाशक्ति महेश्वरसे भिन्न नहीं है किन्तु उनकी अभिन्न शक्तिमात्र है। चूँकि बिना दो विरुद्ध पदार्थके एकत्र हुए किसी विकास अथवा सृष्टिका प्रादुर्भाव हो नहीं सकता और बिना आधार अथवा उपादान (सामग्री) के शक्ति कार्य नहीं कर सकती, अतएव मूल-प्रकृतिका प्रादुर्भाव हुआ जिसका वर्णन जल करके ऊपरके वाक्यमें है। मूल-प्रकृतिका नाम तम और असत् भी है। जैसा कि—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
(मनुस्मृति)

असद्वा इदमग्र आसीत् ! ततो वै सदजायत ।
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

यह तमकी भाँति अज्ञान बिना लक्षण, अप्रतर्क्य, अप्रमेय और सर्वत्र सोये हुएके समान था। यह पहले असत् था और उससे सत् हुआ। दैवी-प्रकृति जैसे परमेश्वरकी इच्छा और ज्ञान-शक्ति है उसी प्रकार यह मूल-प्रकृति भी उसी दैवी-प्रकृतिके साथ ईश्वरकी ज्ञेय-शक्ति है। परमेश्वर जब अपनी इच्छाशक्ति-को अवलम्बन कर द्रष्टा हुआ तो दृश्यका होना भी आवश्यक हो गया, तब मूल-प्रकृति ही दृश्य हुई जो द्रष्टाके संकल्पका परिणाम है और उससे भिन्न नहीं है। ईश्वरकी अनेक होनेकी इच्छाकी पूर्तिके लिये यह मूल-प्रकृति जो नानात्वका मूल है परब्रह्मपर आवरणकी भाँति है और परब्रह्म ही इसके अधिष्ठान हैं। जैसा कि शक्ति बिना आधारके कार्य नहीं कर सकती है और आधार बिना शक्तिसे सञ्चालित हुए परिवर्तित नहीं हो सकता, अतएव मूल-प्रकृति आधार हुई और दैवी-प्रकृति उसका सञ्चालन करनेवाली आधेय हुई। इसप्रकार इस अनादि त्रिपुटी-में ईश्वर ज्ञाता (द्रष्टा), दैवी-प्रकृति (चिच्छक्ति) ज्ञान (दर्शन) और मूल-प्रकृति ज्ञेय (दृश्य) हुई। शक्ति (पराशक्ति) युक्त महेश्वरने परब्रह्मको अधिष्ठान मान मूल-प्रकृतिका उसपर अध्या-रोप किया। सृष्टिकी उत्पत्तिके कालमें महेश्वरकी दृष्टिमें मूल-

प्रकृति सनातन असत् (अर्थात् अध्यारोपित) है। महेश्वर केवल चिन्मात्र सत्ता है और दैवी-प्रकृति (पराशक्ति) उसकी ज्योति (प्रकाश) है जो उससे भिन्न नहीं है।

जैसा कि परमेश्वरकी पराशक्ति चैतन्य, प्रकाश और विद्यारूपी है और सदा ऊर्ध्वकी ओर ईश्वरोन्मुख रहती है वैसा उसके विरुद्ध यह मूल-प्रकृति अर्थात् अपराशक्ति जड, तम और अविद्यारूपी है और यह ईश्वरोन्मुख न होकर अधोमुखी है और ईश्वरसे दूर संसृतिमें ले जानेवाली है। परमेश्वरकी तेजोमयी पराशक्ति जिसको कहीं-कहीं पुरुष भी कहते हैं और जो चित् और विद्या-शक्ति है, उसका उसके विरुद्ध गुणवाली मूल-प्रकृति (जो जड और अविद्या है) के साथ, सम्बन्ध और सङ्घर्ष होनेसे ही सृष्टिकी रचना हुई। सृष्टिमें जितने लोक, क्षेत्र, शरीर, आकार, वस्तु आदि हैं अर्थात् जितने दृश्य हैं वे सब मूल-प्रकृतिकी विकृति होनेसे बने हैं अर्थात् उनका उपादान कारण मूल-प्रकृति है और ये सब मूल-प्रकृतिकी विकृतिके रूपान्तर हैं। किन्तु उस जड मूल-प्रकृतिको नाना प्रकारके रूपोंमें परिवर्तन करनेवाली उसके अन्दर चिच्छक्ति है जो चेतन होनेके कारण परमेश्वरकी इच्छाके अनुसार उसको नाना आवश्यक रूपोंमें परिवर्तन कर रही है और एक आकारकी उत्पत्ति, वृद्धि, परिवर्तन और नाश कर फिर दूसरा बनाती है। अतएव इस सम्पूर्ण विश्वमें यह त्रिपुटी सर्वत्र देख पड़ती है। प्रथम परमेश्वर, परमात्मास्वरूप, सृष्टिका संकल्प करनेवाला और सबका यथार्थ परम आत्मा द्रष्टाकी भाँति जो सत्, चित्, आनन्द और सबका अधिष्ठान है और द्वितीय उस परमेश्वरसे अभि न्न

उसकी चिच्छक्ति अर्थात् विद्या (ज्ञान) शक्ति, उसके संकल्प (प्लैन Plan) के अनुसार कार्य करनेवाली और तृतीय दृश्य-रूप मूल-प्रकृति जो सृष्टिके व्यक्ताव्यक्त वस्तुमात्र दृश्यका आदिकारण है और सबका मूल है। चिच्छक्ति इस मूल-प्रकृति-के साथ युक्त होकर उसको नाना रूपमें परिवर्तनकर सृष्टिको उत्क्रमण करती है, जिसमें ईश्वरकी इच्छा अनेक प्रजा होनेकी पूर्ति हो और वे सब अन्तमें प्रकृतिके गुणोंको पराभव कर और दैवी (ईश्वरीय) दिव्य गुण, सामर्थ्य आदिसे विभूषित होकर अपनी माता उस चिच्छक्तिके आश्रयसे परम पिता परमेश्वरमें युक्त हों और इसप्रकार उनकी महिमाको प्रकट करें। यही उद्देश्य सृष्टिके होनेका है। यह त्रिपुटी सृष्टिमें अभिन्नरूपसे है और एकसे दूसरी कभी पृथक् हो नहीं सकती। दोनों चिच्छक्ति और मूल-प्रकृति परमेश्वरकी ही शक्ति हैं और परमेश्वर दोनों-के नियामक हैं, अतएव ये शक्तियाँ ईश्वरसे अभिन्न हैं। यह तेज-रूपात्मिका चिच्छक्ति ही गायत्री है, क्योंकि यह परमेश्वरके प्रकाश होनेके कारण बिना इस प्रकाशकी सहायताके परमेश्वर-की प्राप्ति हो नहीं सकती, अतएव यही जड अविद्यारूप प्रकृतिके गुणमय और मोहमय बन्धनसे त्राण करनेवाली है। लिखा है--

गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥१॥

(छान्दोग्योपनिषद् प्रपा० ३ ख० १२ । १)

यह सब भूत जो कुछ दीखता है गायत्री ही है। शब्दका

मूल गायत्री है, क्योंकि शब्दहीसे यह सब हुआ है। गायत्री ही समष्टि जीवनका गान है और त्राण करनेवाली है। श्रुतिमें इसको प्राण भी कहा है जैसा कि छन्दोग्योपनिषद्के ७ प्रपाठक १५ खण्ड १ प्रवाकके १ मन्त्रमें प्राणको सबसे परे कहकर 'प्राणो ह पिता प्राणो माता...प्राणः आचार्यः' (अर्थात् प्राण ही पिता, माता और आचार्य है) कहा है। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्के तीसरे अध्यायके तीसरे मन्त्र 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः' में इसको ही रूप-त्रय 'प्राण' कहकर वर्णन किया है। यह समष्टि-प्राण इस स्थूल शरीरके श्वास-प्रश्वासरूप प्राणोंसे पृथक् है किन्तु यह श्वासरूप प्राण इस स्थूल शरीरमें उसीका विकास है। प्रश्नोपनिषद्में मूलप्रकृतिको 'रयि' और अपरा-शक्तिको 'प्राण' कहकर वर्णन किया है। लिखा है—

'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥५॥ १ प्रश्न। प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६॥ प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि ॥१३॥ २ प्रश्न।

आदित्य प्राण हैं और रयि चन्द्रमा हैं। ये सब स्थूल और सूक्ष्म रयिसे हैं, अतएव सब मूर्तिमान् रयिरूप ही हैं। प्राणमें सब कुछ निहित हैं और ऋक्, यजु, सामवेदके मन्त्र, यज्ञ, क्षत्रिय, ब्राह्मण (उसमें निहित हैं) ॥६॥ तीन लोकमें जो कुछ हैं वे सब प्राणके आश्रय हैं। माताकी भाँति पुत्रोंकी रक्षा करो और श्री-ज्ञान दो। महाभारतमें इस परा-प्रकृतिका यों वर्णन है—

योऽसौ योनिर्हि सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च ।
अष्टादशगुणं यत्तत्सत्त्वं सत्त्ववतां वर ॥१३॥
प्रकृतिः सा परा मह्यं रोदसी योगधारिणी ।
ऋता सत्यामराजय्या लोकानामात्मसंज्ञिता ॥१४॥
(शान्तिपर्व अ० ३४१)

जो चर-अचर दोनोंका आधार है और जो शुद्ध सात्त्विक-के अठारह सत्त्वगुणात्मक प्रीति, प्रकाश, उद्रेक, लघुता (अमानित्व), सुख, अकार्पण्य, असंरम्भ, सन्तोष, श्रद्धा, क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, कोमलता, समता, सत्य और (अनसूया) रूपा हैं वही पराप्रकृति है जो अपने योग-बलसे पृथ्वी और अन्तरिक्ष-लोकको धारण करती है। यह सब लोकोंमें फल देनेवाली चिन्मात्ररूपा, अमरण-धर्मशीला और सबकी आत्मस्वरूपा है। श्रीमद्भागवतपुराण स्क० ३ अ० २६ में परा और अपरा-प्रकृतिका यों वर्णन है—

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥४॥

एक सूक्ष्म (चैतन्यमयी) दैवी (परा) प्रकृति है और दूसरी गुणमयी है। दोनों ईश्वरकी इच्छासे सृष्टि-लीलाके निमित्त प्रकट और स्वीकृत हुईं।

किसी-किसी श्रुतिमें इन दोनों प्रकृतियोंको विद्या और अविद्या कहकर भी कथन किया है। गीतामें मूल-प्रकृतिको अपरा-प्रकृति और गायत्री-शक्तिको परा-प्रकृति और दैवी-प्रकृति कहा है—

जैसा कि—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
(गी० अ० ७)

(भगवान् कहते हैं कि) भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार, आठ प्रकार, अपरा-प्रकृतिके भेद हैं और इससे भिन्न जो मेरी परा-प्रकृति है, हे महाबाहो! वह इस जगत्को जीवरूपसे धारण करती है।

ऊपरके श्लोकमें पञ्चमहाभूत आदि आठ प्रकारकी प्रकृति-को अपरा-प्रकृति अर्थात् जड-प्रकृति और परा-प्रकृतिको जीव-शक्ति कहा गया है जो इस जगत्को धारण करती है। और भी—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय! जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
(गी० अ० ९)

हे कौन्तेय! यह प्रकृति मेरे आश्रयसे इस चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। इसी कारण यह बार-बार उत्पन्न होता है।१०।

मैं सब भूतोंका महेश्वर हूँ। मेरे इस परम तत्त्वको न जानकर मूढ़ लोग मुझको मनुष्य-शरीरधारी समझकर अवज्ञा करते हैं।११। विफल-आशावाले, निष्फल-कर्मवाले, अनर्थक-ज्ञानवाले, विक्षिप्त-चित्तवाले व्यक्ति तामसी, राजसी, अहङ्कार-रूप आसुरी-प्रकृतिका आश्रय लेते हैं।१२। हे पार्थ! महात्मा लोग दैवी-प्रकृतिका आश्रय लेकर मुझको नित्य और सब भूतोंका आदिकारण जान अनन्य चित्तसे भजन करते हैं।१३। यहाँ १० वें श्लोकमें मूल-प्रकृतिका प्रतिपादन है, ११ वेंमें महेश्वरका प्रतिपादन है, १२वेंमें त्रिगुणमयी प्रकृतिके फन्देमें पड़नेसे जो लोगोंका पतन होता है उसका प्रतिपादन किया गया है और १३वेंमें दैवी-प्रकृति अर्थात् गायत्रीके आश्रयसे श्रीभगवान्‌की भक्ति महात्मा लोग करते हैं वह प्रतिपादित है। प्रणवके वांच्य (अक्षरों) में मूल-प्रकृति 'अ' है, दैवी-प्रकृति 'उ' है, और महेश्वर 'म्' हैं और परब्रह्म अर्द्धमात्रा हैं। इन दो प्रकृतियोंका अस्तित्व 'परमेश्वर' पर निर्भर है।

यह सृष्टि इन दो प्रकृतियों, (जिनको कहीं-कहीं प्रकृति और पुरुष (परा-प्रकृति) भी कहते हैं), के सम्मेलनका परिणाम है किन्तु इन दो प्रकृतियों और सृष्टिका आधार परमेश्वर हैं। अतएव ऐसा नहीं है कि ये दोनों प्रकृति अपने आप अपने स्वभावसे कार्य कर रही हैं, जैसा कि निरीश्वर-सांख्यका मत है, जो केवल एक क्रियात्मिका प्रकृति और निष्क्रिय अनेक द्रष्टा पुरुष मानता है। यदि यह सृष्टि केवल जड-प्रकृतिका कार्य होता, तो इसमें जो सुन्दर और अटल नियम, उत्तम निर्धारित क्रम,

निश्चित उद्देश्य आदिके साथ सर्वत्र सृष्टिके कार्य हो रहे हैं वह सम्भव नहीं थे। देखा जाता है कि सृष्टिमें सर्वत्र केवल अज्ञानमय अन्ध-स्वभावद्वारा काम न होकर किसी-न-किसी निर्दिष्ट उद्देश्यके साधनके निमित्त बुद्धिके आश्रयसे निश्चित नियम और क्रमसे सब कार्य हो रहे हैं। बुद्धिके नियन्ताके बिना इस प्रकारसे सृष्टिका चलना सम्भव नहीं है। इस कारण पार्थिव-वादी पाश्चात्य ज्योतिषियोंका ग्रहोंकी गतिके आधारपर यह कथन, कि अमुक समयमें ग्रहोंके आपसमें टकरा जानेसे सृष्टि-का अन्त हो जायगा, भूल पाया गया है और भविष्यत्‌में भी ऐसा ही होगा, क्योंकि सृष्टि यथार्थमें इसके नियन्ताके संकल्प-के अनुसार उनकी चैतन्यमयी ज्ञान-शक्तिद्वारा चल रही है। ईश्वर जिनके 'महेश्वर' 'परमेश्वर' आदि नाम है इन दोनों प्रकृतियोंके नियन्ता हैं और उनके आदिसंकल्पकी पूर्तिके निमित्त ही उनकी चैतन्य-शक्ति मूल-प्रकृतिको नाना आकारोंमें सञ्चालन करती है और मूल-प्रकृति भी सेविकाकी भाँति तदनुसार सञ्चालित होती है।

सृष्टिके प्रारम्भमें परा और अपरा-प्रकृतिके परस्पर सम्मेलनका वर्णन श्रीमद्भागवतपुराण स्कन्ध ३ अ० ५ में यों है—

> कालवृत्त्यात्म मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
> पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥ २६ ॥

तदनन्तर नियत कालका आगमन होनेके कारण प्रकृतिमें गुणोंका क्षोभ होनेपर अधोक्षज श्रीभगवान्‌ने अपने अंशरूप

पुरुषके द्वारा चिदाभासरूप वीर्य स्थापन किया। यह चिदाभास परा-प्रकृति है। दोनोंका सम्मेलन होनेपर परा-प्रकृति अपरा-प्रकृतिको क्षोभित और सञ्चालितकर विकृत करती है और उसमें परमेश्वरके प्रतिबिम्बको जीवात्माके रूपमें स्थापन भी करती है।

सांख्य और वेदान्त

आधुनिक सांख्यका उद्देश्य केवल प्रकृतिके विकारोंके उद्भवकी संख्या दिखलाना है, इसी कारण उसमें सृष्टिके परम कारण परमेश्वर और परा-प्रकृतिका उल्लेख नहीं किया गया, जो वेदान्त (उत्तरमीमांसा) का मुख्य विषय है। यह सृष्टि यथार्थमें ईश्वरके आदिसंकल्पका परिणाम है। इस कारण सम्पूर्ण उद्भवमें श्रीपरमेश्वरकी चिन्मयी इच्छा-शक्ति अर्थात् नाद प्रथम है जिसका परिणाम रूप है। शब्द अर्थात् नाम प्रथम और रूप पश्चात्।

महद्-ब्रह्म

सृष्टिमें सर्वप्रथम श्रीपरमेश्वरके संकल्पानुसार उनकी परा-प्रकृतिद्वारा जो चिद्रूप समष्टि-प्रतिबिम्बका सर्वप्रथम प्रादुर्भाव हुआ, उसकी संज्ञा 'महद्-ब्रह्म' है। उसके संकल्पानुसार परा-प्रकृति-द्वारा मूल-प्रकृतिमें प्रथम क्षोभ उत्पन्न होकर जो प्रथम विकृति हुई, उसका नाम महत्तत्त्व अथवा प्रधान है। यह महत्तत्त्व उस मूल-प्रकृतिकी साम्यावस्थामें चैतन्य-शक्तिद्वारा क्षोभ (न्यूनाधिक) होनेका परिणाम है। मूल-प्रकृतिमें तीनों गुण

साम्यावस्थामें थे; उस साम्यतामें क्षोभ होनेपर महत्तत्त्वका प्रादुर्भाव हुआ। श्रीमद्भागवत-पुराणमें इस अवस्थाका यों वर्णन है—

> दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
> आधत्त वीर्यं सोऽसूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥१९॥
> विश्वमात्मगतं व्यञ्जनकूटस्थो जगदङ्कुरः।
> स्वतेजसाऽपिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः॥२०॥
> (स्कन्ध ३ अ० २६)

> आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः॥१४॥
> (स्कन्ध ३ अ० १०)

कालके कारण अपनी योनिरूप प्रकृतिमें गुणोंका क्षोभ होनेपर सबके नियन्ता ईश्वरने अपनी चैतन्य-शक्तिको वीर्य-रूपमें स्थापन किया, जिससे तेजस्वी महत्तत्त्व हुआ। यह महत्तत्त्व जगत्का आधार पहिला अङ्कुर हुआ जो अपनेमें निहित विश्वको प्रकट करनेके निमित्त अपने तेजसे उस तमको, जिसके द्वारा सृष्टि प्रलय-दशामें जाती है, पी गया। परमेश्वर-की शक्तिद्वारा प्रकृतिके तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें न्यूनाधिक होनेका नाम ही महत्तत्त्व है। गीतामें लिखा है—

> मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
> संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
> (१४। ३)

महद्-ब्रह्म मेरी योनि है जिसमें मेरे गर्भस्थापन करनेसे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। महाभारत-शान्तिपर्व अ० १५० के श्लोक ३० में और कठोपनिषद्में भी इनकी संज्ञा

'महानात्मा' है। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० २४ में सृष्टिकी उत्पत्तिका यों वर्णन है—

> आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
> यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥ २ ॥
> तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।
> वाङ्मनोगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत् ॥ ३ ॥
> तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
> ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥ ४ ॥
> तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन्गुणाः।
> मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥ ५ ॥
> तेभ्यः समभवत्सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः ॥ ६ ॥

यह देखनेवाला और दीखनेवाला समस्त प्रपञ्च, पहिले प्रलयके समय, वैसे ही सत्ययुगमें, जिस समय पुरुष विवेकमें निपुण थे, भेदशून्य एक ज्ञानरूप ही था ॥ २ ॥ फिर वह केवल, भेद-रहित और सत्य ज्ञानरूप ब्रह्म ही था। जैसे वाणी और मनकी प्रवृत्ति हुई, वैसे ही मायाका विलास-रूप दृश्य और उसका प्रकाशरूप द्रष्टा, ऐसे दो प्रकारके अंश हुए। ३। उन दो अंशोंमें जो एक दृश्य पदार्थ है, वह कार्य-कारणरूप प्रकृति है और दूसरा जो ज्ञानरूप द्रष्टा है उसको पुरुष कहते हैं। ४। फिर उस पुरुषकी प्रेरणासे मुझ परमेश्वरसे क्षुभित की हुई प्रकृतिसे सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण उत्पन्न हुए।५। उन गुणोंसे सूत्र (क्रिया-शक्ति-युक्त) पहिला विकार उत्पन्न हुआ और उस सूत्रसे युक्त महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। ऊपरके वर्णनमें

परमेश्वर, परा-प्रकृति (पुरुष) और अपरा-प्रकृतिका उत्तम वर्णन है। ईश्वरके संकल्पानुसार परा-प्रकृतिके द्वारा मूल-प्रकृति क्षुभित हुई, तब त्रिगुणके उत्पन्न होनेपर सूत्रात्मा (महद्‌-ब्रह्म) और सूत्र (महत्तत्त्व) के प्रादुर्भावका भी वर्णन है। उपनिषदोंमें भी महद्‌-ब्रह्मकी संज्ञा सूत्रात्मा है। पुराणोंमें इसकी संज्ञा 'ब्रह्मा' है। श्रीमद्भागवत-पुराण स्कन्ध ३ अध्याय ६ के २४ वें श्लोकमें ब्रह्माने अपनेको श्रीपरमेश्वरकी विज्ञान-शक्ति कहा है और श्रीश्रीधर स्वामीने अपनी टीकामें ब्रह्माको महत्तत्त्वका अभिमानी बतलाया है। इस प्रकार यह प्रथम सर्ग केवल प्राकृतिक महत्तत्त्व नहीं है किन्तु इसमें पुरुष-भाव-रूप महद्‌-ब्रह्म ही मुख्य हैं। महत्तत्त्व तो उनका केवल आवरणकी भाँति दृश्य है। इस सर्गमें नाना जीवात्माके प्रादुर्भाव होनेका सूत्रपात होता है। इसमें महद्‌-ब्रह्म द्रष्टा अर्थात् अधिदैव, महत्तत्त्व दृश्य अर्थात् अधिभूत, विज्ञान अथवा चिच्छक्ति दर्शन अर्थात् अध्यात्म और अर्द्धमात्राकी भाँति इन तीनोंके परम कारण चौथे परमेश्वर परम आधार हैं।

सप्त-लोक

श्रीमद्भागवतपुराण स्कन्ध ३ अ० ६ के श्लोक ८ और ६ में लिखा है कि श्रीब्रह्माजीने कमल-रूप ब्रह्माण्ड (महत्तत्त्व) को नीचे तीन भाग भूः भुवः और स्वर्ग लोकोंमें विभक्त किया जो सकाम कर्मका क्षेत्र होनेसे कर्माधीन है। इनके ऊपरके महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक निष्काम धर्मके लोक होनेके कारण ब्रह्माके अधीन नहीं हैं। इसीलिये ब्रह्माका एक

दिन बीतनेपर नीचेके तीनों लोकोंकी भाँति ऊपरके उन लोकों-का नाश नहीं होता है। अतएव ब्रह्मा ही स्वर्गलोकके यथार्थ अधिष्ठाता हैं। इन सातों लोकोंमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा नीचे-वाले स्थूल हैं और नीचेकी अपेक्षा ऊपरके सूक्ष्म हैं। स्मरण रहे कि जैसे प्रकृतिका अस्तित्व पुरुषपर निर्भर करता है, इसी नियमके अनुसार ये सात लोक केवल लोकमात्र ही नहीं हैं किन्तु ये भी पुरुषके अभिन्न भाग हैं। इसी कारण महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३५के २६ और ३० श्लोकोंमें सप्तर्षियोंको सप्तप्रकृतिके रूपमें सप्त-लोकोंके धारण करनेवाले कहे हैं।

हिरण्यगर्भ

महद्ब्रह्मके पश्चात् द्वितीय पुरुष हिरण्यगर्भ हुए जिनके सर्गका मुख्योद्देश्य परमेश्वरके आदि-संकल्प 'एकोऽहं बहु स्याम्' की पूर्तिके निमित्त सृष्टिमें नानात्वका विधान करना है। इसलिये इस सर्गकी समष्टि-प्रकृति अहङ्कारात्मिका है, क्योंकि बिना अहङ्कारके नानात्वका होना सम्भव नहीं। महत्तत्त्वके सर्गमें प्रकृति सात विभागों (लोक) में विभाजित की गयी और इस हिरण्यगर्भ-सर्गमें प्रकृतिको नाना रूप और आकारोंमें परिवर्तन करनेकी सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इस कारण इस सर्गकी प्रकृतिका नाम अहङ्कार है, जिसके अधिष्ठाता रुद्र हैं। पुराणमें ब्रह्मासे रुद्रका उत्पन्न होना लिखा है।

इस समष्टि-अहङ्कारात्मिका प्रकृतिसे प्राण, मन और इन्द्रियोंकी सृष्टि हुई, जो नानात्वके सामग्री-रूप हैं। लिखा है—

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।'

(मुण्ड० २।१।१, ३,७)

उस (अज) से प्राण, मन और इन्द्रियाँ हुए। अहङ्कारके सत्त्व-गुणसे मन और रजोगुणसे इन्द्रियोंकी सृष्टि हुई। इस दूसरे सर्गके लोकका नाम भुवर्लोक है। पञ्चदशीमें लिखा है—

आनन्दमय ईशोऽयं बहुस्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत् सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥

(१६२। परि० ६)

जैसे सुषुप्ति-अवस्थाका क्रमसे स्वप्नमें परिवर्तन होता है उसी प्रकार मैं अनेक शरीरोंमें प्रवेश करूँ, ऐसे संकल्पके कारण वे (महद्-ब्रह्म) हिरण्यगर्भरूप हुए। वेदान्तमें महद्ब्रह्मकी संज्ञा 'ईश्वर' भी है जो महेश्वरसे पृथक् है। इस सर्गमें इन्द्रिय, मन आदिके अभिमानी देवताओंका भी प्रादुर्भाव होता है, जिनकी उक्त सर्गमें अधिदैव संज्ञा है। तात्पर्य यह कि जहाँ दृश्य अर्थात् प्रकृति-भाग है वहाँ द्रष्टा अर्थात् पुरुष-भाग भी अवश्य रहता है। इस कारण मन, इन्द्रियादि प्रकृतिके कार्यके अभिमानी देवता द्रष्टाकी भाँति हैं जिनकी शक्तिसे दृश्य सञ्चालित होता है। इस सर्गमें हिरण्यगर्भ द्रष्टा (अधिदैव), हिरण्मय-अण्ड (भुवर्लोक) रूप प्रकृति दृश्य (अधिभूत), क्रिया और ज्ञान-शक्ति दर्शन (अध्यात्म) और चौथा कारण महद्-ब्रह्म अर्द्धमात्राकी भाँति हैं।

विश्वानर

तीसरा स्थूल-भूतका सर्ग है जिसके समष्टि-चैतन्य अभिमानी पुरुषकी संज्ञा 'विश्वानर' है और वहाँकी प्रकृतिकी संज्ञा 'वैश्वानर' है और इस लोकको भू-लोक कहते हैं। कोई विश्वानर पुरुषको विराट् पुरुष भी कहते हैं। इस सर्गमें अहङ्कारके तमोगुणसे पञ्च-महाभूतका उद्भव इस क्रमसे होता है—पुरुषमें शब्दके उच्चारण करनेकी स्पृहा होनेसे उक्त सर्गकी वैश्वानर प्रकृति विकृति होकर आकाशरूप हो जाती है जिसका गुण शब्द है। स्पर्शकी स्पृहा अर्थात् तन्मात्राके प्रादुर्भाव होनेपर आकाश विकृत होकर वायु होता है जिसमें शब्द और स्पर्श दोनों गुण हैं। इसीलिये वायु आकाशसे अधिक स्थूल है। रूपकी तन्मात्रा अर्थात् देखनेकी स्पृहासे अग्नि उत्पन्न होती है जिसमें शब्द, स्पर्श और रूप तीनों गुण हैं। यह अग्नि अदृश्य वायुकी अपेक्षा अधिक स्थूल होनेके कारण दृष्टिगोचर है। रसकी स्पृहाके कारण जल-तत्त्वकी सृष्टि और गन्धकी स्पृहाके कारण पृथ्वी-तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। पृथ्वी-तत्त्वमें स्थूलताकी चरम सीमा पहुँच जाती है।

वैकृत-सर्ग

सृष्टि-सर्गके दो भाग हैं। महत्तत्त्वसे लेकर पञ्चमहाभूतकी उत्पत्तितकको प्राकृतिक सर्ग कहते हैं, जिसमें प्रकृति नाना विभागोंमें विभक्त होती है। इसके बाद वैकृतिक सर्ग प्रारम्भ होता है, जिसमें प्राकृतिक सर्गमें बनी हुई सामग्रियोंसे

उपाधियों अर्थात् आकारोंका बनना प्रारम्भ होता है। प्राकृतिक सर्गमें प्रकृति सूक्ष्मसे स्थूल होती है और जैसे-जैसे उसकी स्थूलता बढ़ती है, वैसे-ही-वैसे उसके अभ्यन्तरकी चैतन्य-शक्तिके विकासका ह्रास होता है, यहाँतक कि पत्थरमें, जिसमें स्थूलताकी चरम सीमा पहुँच जाती है, उसके अभ्यन्तरकी चैतन्य-शक्तिका कुछ भी बाहरसे पता नहीं लगता यद्यपि वर्तमान रहती है। इस प्रकार प्रथम महत्तत्त्वके सर्गमें सत्त्व-गुणकी प्रधानता रहती है, द्वितीय हिरण्य-गर्भ-सर्गमें रजोगुणकी प्रधानता रहती है, जिसके कार्य इन्द्रियाँ हैं और तीसरे भूत-सर्गमें तमोगुणकी प्रधानता रहती है जो स्थावरमें अपनी चरम सीमामें पहुँच जाता है। इसप्रकार सत्त्व-गुण रजोगुणसे आच्छन्न होता है और रजोगुण तमोगुणसे। इन अधोमुखी (प्रकृत्योन्मुखी) प्रकृतिके कारण जो चैतन्यके विकासमें रुकावट होती है, वही सृष्टि-यज्ञ है, जिसके द्वारा चैतन्य-पुरुष अपने विकासमें क्षति करके प्रकृतिके उद्भवमें सहायता करता है, जिसके बिना सृष्टिका होना असम्भव था।

अब वैकृत-सर्गमें प्रकृतिकी स्थूलताको सूक्ष्म किया जाता है, जिसमें उपाधियाँ बनें और जैसे-जैसे स्थूलताका ह्रास होकर सूक्ष्मता आती है वैसे-ही-वैसे अभ्यन्तरकी चिच्छक्तिके विकासकी वृद्धि होती है। इस प्रकृति-सर्गमें तत्त्वोंके संयोजन-द्वारा उपाधि बनती है। इस वैकृत-सर्गके प्रारम्भके समयका वर्णन श्रीमद्भागवतपुराण स्कन्ध ३ अ० ६ में यों है—

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः॥ १॥

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥ २॥
सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्॥ ३॥

इस प्रकार एकमें एक न मिलकर पृथक्-पृथक् विश्वरचना करनेमें असमर्थ अपनी शक्तियोंकी दशाको देखकर अद्भुत पराक्रमी उन भगवान्‌ने उस समय अपनी काल-शक्तिको स्वीकार करके तेईस तत्त्वोंके समूहमें अन्तर्यामीरूपसे एक साथ प्रवेश करनेके पहिले लीन हुई क्रिया-शक्तिको प्रकटकर उस चेष्टा-रूप क्रिया-शक्तिसे एक-एकसे परस्पर छूटे हुए तीन तत्त्वों-के समूहको एकत्र करके जोड़ दिया। इस सर्गमें श्रीविष्णु भगवान्‌द्वारा वैष्णवी-शक्तिका कार्य आरम्भ होता है जो रक्षा और पालन करना है। इस सर्गमें तत्त्वों और अणुओंको वैष्णवी शक्ति एकत्र संयोजित कर स्थूलोपाधि अर्थात् नाना प्रकारके शरीर प्रस्तुत करती है और उनको धारण करती है। श्रीमद्भा-गवतपुराण स्कन्ध ३ अध्याय २६ में लिखा है—

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत्॥ ५०॥

महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चमहाभूत ये सात उत्पन्न होकर एकमें एक न मिलकर जब पृथक् ही रहे, तब उनसे सृष्टि न होनेके कारण जगत्‌के परम कारण परमेश्वरने उनमें प्रवेश किया।

इस सर्गको वैकृत इसलिये कहते हैं कि प्रकृतिके विकृत होनेसे जो नाना तत्त्व बने, उन विकृतियोंके संयोजनद्वारा इस सर्गमें उपाधि बनती है। प्राकृतिक सर्गका स्रोत परमात्मा-रूप केन्द्रको त्यागकर प्रकृतिकी ओर जाता है किन्तु इस वैकृत-सर्गका स्रोत प्रकृतिको शुद्ध सूक्ष्म बनाकर ईश्वरोन्मुख प्रवाहित होता है जो सृष्टिका अन्तिम लक्ष्य है। तमोगुणका दमन और उसकी शुद्धि रजोगुणद्वारा होती है और रजोगुणकी सत्त्व-गुणद्वारा। प्रत्येक गुणमें अन्य दो गुण वर्तमान रहते हैं। जैसा कि—तम-तम, तम-रज और तम-सत्त्व। रज-तम, रज-रज और रज-सत्त्व। सत्त्व-तम, सत्त्व-रज और सत्त्व-सत्त्व। तात्पर्य यह है कि तीनों गुणोंकी मलिन, मध्यवर्ती और शुद्ध अवस्था है।

ऊर्ध्व-क्रम

भूलोकके स्थावरवर्गके प्रस्तर (पत्थर) भागमें स्थूलताकी चरम सीमा आ जाती है अर्थात् उसमें घोर तमोगुण (तम-तम) वर्तमान है जिसके कारण वहाँ बाह्यदृष्टिसे चैतन्यका अभाव देखा जाता है किन्तु वास्तवमें वहाँ भी चैतन्य वर्तमान है जो घोर तमोगुणद्वारा आच्छादित होनेके कारण बाह्य-दृष्टिसे अदृश्य रहता है। अब यहाँसे ऊर्ध्व गति प्रारम्भ होती है। उसके भीतरका जीव-तत्त्व अर्थात् चेतन-शक्ति धीरे-धीरे अन्दरमें उत्क्रमणका कार्य कर प्रस्तरसे उद्भिजवर्गकी उत्पत्ति करती है, जिसमें बाह्य-स्थूलताकी कुछ कमी होकर सूक्ष्मता आ जाती

है, जिसके कारण भीतरकी जीव (प्राण) शक्तिको इतना अवकाश मिलता है कि वह उसको बढ़ाती है, फैलाती है और फूल-फल भी उत्पन्न कर देती है; यद्यपि यहाँ भी स्थावरता बनी ही रहती है। यहाँ तम-रजकी क्रिया देखी जाती है। उद्भिज्जमें प्राण (जीव) के सञ्चालनका बोध होता है किन्तु सुख-दुःखके अनुभवकी शक्ति बीजके समान रहती है, प्रकट नहीं। बंगालके प्रसिद्ध उद्भिज-तत्त्ववेत्ता सर जगदीशचन्द्र बोस-ने अपने आविष्कार और यन्त्रद्वारा सिद्ध किया है कि उद्भिज्ज जगत्के पेड़, पत्ते, पौधे आदिको सुख-दुःख आदिका अनुभव होता है। इसका कारण यह है कि यह शक्ति बीजके रूपमें वहाँ वर्तमान है। उद्भिजके बाद पशु-जातिकी सृष्टि होती है, जिसमें इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं और उनके द्वारा वे सुख-दुःखका अनुभव कर सकते हैं, किन्तु मनकी शक्ति उनमें बीजकी अवस्था-में रहती है, पूर्ण प्रकट नहीं। इस पशु-योनिमें तम अर्थात् स्थावरताको रजोगुण अर्थात् शारीरिक आवश्यकताको उत्पन्न-कर पराभव किया जाता है किन्तु यहाँ मलिन रजोगुण है अर्थात् वह तमसे युक्त है (रज-तम)। इसी कारण पशुके जीवन-का मुख्य कार्य केवल इन्द्रियोंका चरितार्थ करना है। पशु अपने स्वभावके अनुसार चलते और मनकी विवेचना-शक्तिके अभावके कारण वे अपने स्वभावको कदापि बदल नहीं सकते। यद्यपि इस स्थावर और पशु-जगत्में जीव-शक्तिका निवास अवश्य है, किन्तु मनुष्यके समान उसमें प्रकाश्य जीवात्मा नहीं है। अर्थात् जीव-तत्त्व समष्टि-रूपमें सबमें एक है, व्यष्टि अर्थात्

व्यक्तिगत प्रत्येकमें पृथक्-पृथक् नहीं है। किन्तु स्थावर और पशुमें यह भेद है कि पशुमें जीव-तत्त्व अथवा जीव-शक्ति प्रत्येक पशुमें व्यक्तिगत न होकर जातिगत हो गयी है अर्थात् प्रत्येक पशु-जातिमें एक जातिगत जीवात्मा है जिसके कारण प्रत्येक पशु-जातिका स्वभाव एक प्रकारका रहता है जिसमें परिवर्तन नहीं होता, उसमें व्यक्तिगत अहङ्कारके प्रादुर्भावके लिये कोई-कोई बलवान् पशु अपनेसे कमज़ोर पशुको खाकर अपनी पुष्टि करते हैं, इससे अहङ्कारके बीजका भाव उनमें प्रकट होना प्रारम्भ करता है। पशुके बाद मनुष्यकी सृष्टि होती है और अन्तःकरण-की शक्ति जो पशुमें बीजरूपमें थी, वह यहाँ प्रकट हो जाती है। सिवा स्थूल-शरीरके जो भूलोककी प्रकृतिसे बनता है, दो अन्य शरीर भी बनते हैं; अर्थात् भुवर्लोककी प्रकृतिका सूक्ष्म-शरीर और स्वर्लोककी प्रकृतिका कारण-शरीर। यहाँ सत्त्वगुण प्रधान है, क्योंकि बुद्धि सत्त्वगुणका कार्य है; जो कारण-शरीरका प्रधान गुण है। ईश्वरका आदि-संकल्प 'एकोऽहं बहु स्याम्' की पूर्तिका ठीक अवसर इस मनुष्य-सृष्टिके बननेसे ही होना सम्भव हुआ। मनुष्य इस सृष्टि-रूपी वृक्षका सुन्दर पुष्प है और इसी पुष्पके प्रादुर्भावके लिये ही सृष्टिके उद्भवमें इतने परिश्रम किये गये और परमात्माने अपनी शक्तिसे युक्त होकर मूल-प्रकृतिको क्षुभितकर और उसके द्वारा आबद्ध और आच्छा-दित होकर यह सृष्टिरूप महायज्ञ किया; जिसमें इस यज्ञके फलरूप मनुष्य-सृष्टि बने, जो परमेश्वरके साक्षात् अंशके धारण करने योग्य हो, जिसमें प्रत्येक अंश अन्तमें ईश्वरके समान हो जाय

अर्थात् उनके दिव्य गुण, सामर्थ्य, शक्ति आदि जो अंशमें बीजरूपमें निहित हैं, क्रमशः विकासको प्राप्त हों।

मनुष्य-जीवन, स्थूलशरीर

प्राकृतसर्गमें जैसे उद्भव ऊपरसे नीचे अधोमुख हुआ, जिसके कारण प्रकृतिका उद्भव और उसके द्वारा अभ्यन्तरके आत्म-तत्त्वका अधःपतन सम्पादित हुआ, उसी प्रकार इस वैकृतिक सर्गमें आत्माका ऊर्ध्वगमन और प्रकृतिका अधःपतन होता है। इस कारण प्राकृतसर्गमें ऊपरसे नीचे स्वर्लोक, भुवर्लोक और भूलोक उद्भवका क्रम है किन्तु इस वैकारिक सर्गमें उपाधि (शरीर) के बननेका कार्य प्रथम भूलोकसे प्रारम्भ होकर ऊपरकी ओर जाता है।

भूलोकमें स्थावर और पशु-जगत्‌के बाद मनुष्य-सृष्टिके प्रारम्भ होनेपर उसके निमित्त प्रथम भूलोककी प्रकृतिके पञ्चीकृत महाभूतद्वारा स्थूल-शरीर बनता है जो सबके दृष्टिगोचर है। यह अन्य शरीरोंका आधार है और इन्द्रियोंके बाह्य कार्य करनेके इसमें गोलक हैं। लिखा है—

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसञ्चितम्।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते॥

किये कर्मके अनुसार पञ्चीकृत पञ्च महाभूतका बना हुआ स्थूल-शरीर (कर्मानुसार) सुख-दुःख भोगनेके लिये मिलता है। इस मनुष्य-जीवनमें स्थूल-शरीरके धारण करनेपर और अहङ्कारके होनेपर ऐसे कर्म-फल-भोग-कर्मकी उत्पत्ति होना

प्रारम्भ होता है, जिसका फल कर्ताको भोगना पड़ता है जो अन्य योनिमें अहङ्कारके अभावके कारण सम्भव नहीं है। मनुष्यका स्थूल-शरीर ही कर्मक्षेत्र है जिसमें कर्मके बीज-के पड़नेसे फल होता है।

सूक्ष्म-शरीर

स्थूल-शरीरके अभ्यन्तर भुवर्लोककी प्रकृतिका बना सूक्ष्म-शरीर है। यह सूक्ष्म-शरीर अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) का बना है। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच प्राणका यह केन्द्र अर्थात् निवास-स्थान है। ये पन्द्रह और अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्कार) इन सोलह तत्त्वोंका यह सूक्ष्म-शरीर है। इस सूक्ष्म-शरीरमें अन्तःकरण मुख्य है, जो पशुके शरीरमें बीजकी भाँति है, प्रकट नहीं। त्रिगुणात्मक पञ्चमहाभूतके प्रत्येकके सत्त्व-गुणके अंशसे श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं अर्थात् आकाशके सत्त्वगुणसे श्रोत्र, वायुसे त्वक्, तेजसे चक्षु, जलसे जिह्वा और पृथिवीसे घ्राण। इसी प्रकार प्रत्येक भूतके रजोगुण-से कर्मेन्द्रियाँ हुईं। आकाशसे वाक्य, वायुसे हस्त, तेजसे पद, जलसे पायु और पृथिवीसे उपस्थ। सम्पूर्ण पञ्चभूतके सत्त्व-गुणकी समष्टिसे अन्तःकरणकी उत्पत्ति हुई जिसमें मन और बुद्धि प्रधान हैं। मनकी वृत्ति चित्त है और बुद्धिका स्वभाव अहङ्कार है। सम्पूर्ण पञ्चभूतके रजोगुणकी समष्टिसे पाँच प्राणोंकी उत्पत्ति हुई। इस सृष्टिरूप महायज्ञका अन्तःकरण मानो अन्तिम फल है जिसकी उत्पत्तिके निमित्त ही पूर्वकथित यह वृहत् सृष्टि-

लीला की गयी, जिसमें विस्तृत कालतक प्रकृति और पुरुषके निरन्तर संघर्षणका फल यह अन्तःकरण उत्पन्न हुआ। अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है अर्थात् तम और रजगुणसे भी सम्बन्ध रख सकता है और सत्त्वात्मक होनेके कारण ऐसा निर्मल है कि यह परमात्माके प्रतिबिम्बको भी धारण कर सकता है; जैसे कि पृथिवी आदि स्थूल पदार्थ सूर्यको अपनेमें प्रतिबिम्बित नहीं कर सकते हैं किन्तु जल सूक्ष्म होनेके कारण कर सकता है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और प्राण यथार्थमें सूक्ष्म-शरीरमें ही हैं। स्थूल-शरीरमें तो केवल इनके गोलक अर्थात् स्थूलोपाधि हैं जिनके द्वारा ये स्थूल जगत्के विषयको ग्रहण करते और भोगते हैं। आत्मबोधमें लिखा है—

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोऽयं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥१२॥

पाँच प्राण, मन, बुद्धि, दश इन्द्रिय, इन सत्तरह अवयवोंसे युक्त अपञ्चीकृत भूतसे बना सूक्ष्म-शरीर है, जिसके द्वारा जीवात्मा सुख-दुःख आदिका भोग करता है।

उपर्युक्त विकाशके क्रमका (प्रस्तर, उद्भिज, पशु, मनुष्य) वर्णन विष्णुपुराणके छठे अंशके ७ वें अध्यायमें यों है—

तथा तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता ।
सर्वभूतेषु भूपाल ! तारतम्येन लक्ष्यते ॥६३॥
अप्राणवत्सु स्वल्पाल्पा स्थावरेषु ततोऽधिका ।
सरीसृपेषु तेभ्योऽन्याप्यतिशक्त्या पतत्रिषु ॥६४॥

पतत्रिभ्यो मृगास्तेभ्यः स्वशक्त्या पशवोऽधिकाः । ३।३।८

पशुभ्यो मनुजाश्चातिशक्त्या पुंसः प्रभाविताः ॥६२॥

हे राजन् ! अविद्यासे आवेष्टित होकर क्षेत्रज्ञ शक्ति सब भूतोंमें थोड़ी बहुत रहती है। प्रस्तर आदि जडमें बिना प्राणके समान बहुत कम है, स्थावर वृक्षादिमें उससे अधिक, कृम्यादिमें उससे अधिक, पक्षियोंमें उससे अधिक, जंगली पशुओंमें उससे अधिक, ग्राम्य-पशुओंमें उससे अधिक और उससे अधिक मनुष्योंमें है। इसीलिये मनुष्य इन सभीका अधिपति है। श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध ३ अध्याय १० के श्लोक १८ से २५ तकमें इसी वैकारिक सर्गके उद्भवका इसी क्रमसे वर्णन है।

कारण-शरीरके चेतनाभिमानी

किसी सुगन्धवाले पुष्पके वृक्षकी डाल, पत्ते, अंकुर आदि सुगन्धका प्रकाश नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी बनावटके बाह्य आकारकी प्रकृति ऐसी स्थूल है कि वह पुष्पके गुणको प्रकाशित नहीं कर सकती; यद्यपि बीजरूपसे सुगन्ध-गुण उसमें निहित है, किन्तु जब पुष्प प्रकट होता है तब पुष्प ही सुगन्ध प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार स्थावर और पशु-जगत्में प्रकृतिकी अवस्था, तम और रजकी प्रधानताके कारण ऐसी नहीं होती जो परमात्माके अंशको स्पष्ट धारण कर सके, किन्तु मनुष्य-शरीरमें शुद्ध सत्त्वगुणावलम्बित कारण-शरीर ऐसी स्वच्छ, सात्त्विक प्रकृतिका बना हुआ है कि उसमें परमात्माकी पराशक्तिकी सहायतासे परमात्माके अंशने

अवतरित होकर वास किया। आत्मबोधका वचन है—

> अनाद्यविद्या निर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते।
> उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥१३॥

अनादि अविद्याका निर्वाचित 'कारण-शरीर' है, किन्तु आत्माको स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों उपाधियोंसे विलक्षण जानो। इसी अंशका नाम 'जीवात्मा' है। स्थावर और पशु-जगत्में जीव-शक्ति समष्टिरूपमें वर्तमान है किन्तु व्यष्टि अर्थात् व्यक्तिरूपसे जीवात्मा बनकर वहाँ नहीं है। इस जीवात्माको 'प्राज्ञ' भी कहते हैं, क्योंकि प्रज्ञाका बीज इसमें है। गीता अध्याय १५ में इसका यों वर्णन है--

> ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥७॥

जीवलोकमें मेरा अंश जीव होकर रहता है जो सनातन है। विष्णुपुराणमें भी लिखा है—

> क्षेत्रज्ञाः समवर्त्तन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः।
> ते सर्वे समवर्त्तन्त ये मया प्रागुदीरिताः ॥२॥
> (अं० ७ अ० १)

उस धीमान् ब्रह्माके शरीरसे क्षेत्रज्ञोंका प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने (शरीरोंमें) वास किया जैसा कि मैंने पहिले कहा था।

श्रुतिमें—

> 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत'

—मन्त्रमें इस अवस्थाका वर्णन है, जिसका अर्थ है कि उसने सृष्टि कर उसमें प्रवेश किया। उपनिषद्में यह भी वर्णन है कि

इस अवस्थामें परमात्माके अंश क्षेत्रज्ञने शरीरके ब्रह्मरन्ध्र होकर उसमें प्रवेश किया। तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाक ६ में इसका यों वर्णन है--

'स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः'

हृदयाकाशमें पुरुषका वास है जो मनोमय, हिरण्मय और सनातन है। श्रुतिमें इसको परमात्मारूपी अग्निके विस्फुलिङ्गकी भाँति माना है। चूँकि परमेश्वर सनातन है अतएव उसका अंश अथवा विस्फुलिङ्ग भी अवश्य ही अनादि और सनातन है। श्रीमद्भागवत-पुराण स्कन्ध ३ अध्याय २६ में जो समष्टि-विराट्का वर्णन है, वही व्यष्टि-विराट् जो मनुष्य है उसके विषयमें भी समझना चाहिये। उसमें इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका वर्णन इस क्रमसे है। मुख, नासा, नेत्र, कर्ण, त्वचा, गुदा, हस्त, पाद, नाड़ी, उदर और इनके साथ चेतन पुरुषके अंश-सञ्चालक देवता और शक्ति भी उत्पन्न हुई। सबसे अन्तमें हृदय उत्पन्न हुआ। जिससे प्रथम मन और उसका देवता चन्द्रमा, दूसरी बुद्धि और उसका देवता ब्रह्मा, तीसरा अहंकार और उसका देवता रुद्र और चौथा चित्त और उसका देवता क्षेत्रज्ञ उत्पन्न हुए। उसमें कहा है कि मुखसे लेकर मन, बुद्धि और अहंकारतकके देवताके विराट् शरीरमें प्रवेश करनेपर भी विराट् पुरुष नहीं उठा, किन्तु जब चित्तके देवता क्षेत्रज्ञने हृदयमें प्रवेश किया तब विराट् उठा, जैसा कि—

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा ।
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥६८॥
(स्क० ३ अ० २६)

यहाँ क्षेत्रज्ञसे समष्टि-पुरुषका तात्पर्य है जिसका व्यष्टि मनुष्य-शरीरमें कारण-शरीरका अभिमानी 'प्राज्ञ' है । अनेक स्थलोंमें इस जीवात्माको परमात्माका प्रतिविम्ब कहा है जैसा कि ब्रह्मवैवर्तपुराणमें लिखा है—

जीवस्तत्प्रतिविम्बश्च स च भोगी च कर्मणाम् ॥१४॥
(प्रकृतिखण्ड अ० २)

यथा समस्तब्रह्माण्डे श्रीकृष्णांशांश जीवितः ।
सर्वशक्तिस्वरूपा त्वं तथा तेषु स्थिता तदा ॥१०७॥
(श्रीकृष्णजन्मखण्ड अ० १५)

उस ईश्वरका प्रतिविम्ब जीव है और वही कर्मके फलको भोगता है । जैसे समस्त ब्रह्माण्डमें श्रीकृष्णके अंशके अंशसे जीवगण हैं वैसे ही सर्वशक्तिरूपा श्रीराधा (पराशक्ति) भी उन सबमें विराजमान हैं । स्थावर, उद्भिज और पशु-जगत्में मूल-प्रकृतिने क्षेत्ररूप होकर नाना आकारोंकी उत्पत्ति की, किन्तु उसमें सञ्चालन-शक्ति परा-प्रकृतिसे आयी और महेश्वर उनका अधिष्ठानरूप चेतन रहा, किन्तु मनुष्यके कारण-शरीरमें दैवी प्रकृतिद्वारा ईश्वरका अंशरूप जीवात्माके प्रतिविम्बकी भाँति प्रादुर्भाव हुआ ।

कारण-शरीर अण्डाकार है । शरीरमें इसका स्थान हृदय है । इसके चेतन (प्राज्ञ) की अवस्था सुषुप्ति है । इस प्राज्ञको प्रकृतिके

तामसिक, राजसिक गुण और उनके विकारोंका अनुभव नहीं है, जिसका ज्ञान प्राप्तकर उनको दम और शुद्ध करना भी इसके प्रादुर्भावका एक उद्देश्य है। कारण-शरीर स्वर्गलोक और उसकी ऊर्ध्वके लोककी प्रकृतिका बना हुआ है। कारण-शरीरका व्यष्टि (व्यक्तिगत) अभिमानी तो प्राज्ञ है, किन्तु उन समष्टि शरीरोंके समष्टि-चेतनाभिमानीको सूत्रात्मा कहते हैं। कारण-शरीरका जीवात्मा विज्ञानमय और आनन्दमय है, अर्थात् वहाँ पराशक्ति विज्ञान और आनन्दके दिव्य गुणको धारण करती है।

सूक्ष्म-शरीरका चेतनाभिमानी

स्वर्लोकके नीचे भुवर्लोक है जिसके अभिमानी समष्टि-चेतनको हिरण्यगर्भ कहते हैं। भुवर्लोककी प्रकृतिके बने मनुष्यके व्यष्टि-शरीरको सूक्ष्म-शरीर कहते हैं, जैसा कि कहा जा चुका है। इसमें कारण-शरीरके अभिमानी जीवात्माका चेतन प्रतिबिम्ब पड़ा है और वह प्रतिबिम्ब उस शरीरका व्यष्टि-चेतन अभिमानी हुआ जिसका नाम अन्तःप्रज्ञ है। इस प्रतिबिम्बको सूक्ष्म-शरीरका अन्तःकरण धारण करता है, जिसके सिवा अन्य कोई तत्त्व इसको धारण नहीं कर सकता। इसकी अवस्था स्वप्नकी है और स्थान कण्ठ है। इस सूक्ष्म-शरीरका नियन्ता मन है जो उभयात्मक है जैसा कि कहा जा चुका है। मन विषयभोगकी ओर प्रवृत्त होनेसे अशुद्ध हो जाता है और उससे पृथक् अन्तर्मुख होकर आत्माका आश्रय लेनेसे शुद्ध रहता है। यथार्थमें संसार-युद्धका स्थान यह सूक्ष्म-शरीर ही है। षट्चक्रके केन्द्र भी यथार्थमें इसी शरीरमें हैं।

स्थूल शरीरकी भाँति इसके भी आकार हैं। इस सूक्ष्म-शरीरके व्यष्टि-चेतनाभिमानी अन्तःप्रज्ञका समष्टि (समूह) चेतन हिरण्यगर्भ है जैसा कि पहिले कहा जा चुका है।

भुवर्लोककी भयानक कामात्मक माया

इस भुवर्लोकमें रजोगुण प्रधान है, क्योंकि इन्द्रियाँ भी इस लोककी प्रकृतिको बनी हुई हैं और उनके अधिदैव देवता भी सब रजोगुणात्मक हैं। इसीलिये मनुष्यके अपने इन्द्रियके विषय-भोग करनेसे उनको तुष्टि होती है। अतएव उन लोगोंकी मनुष्यको कामात्मक विषय-भोगमें प्रवृत्त करने और विषय-वैराग्यमें विघ्न डालनेकी चेष्टा रहती है। यह प्रसिद्ध है कि जब साधक मायाके जालसे मुक्त होनेके निमित्त ईश्वरोन्मुख होना चाहता है तब रजोगुणी देवता उसको अपने पथसे च्युत करनेके लिये विघ्न-बाधा उपस्थित करते हैं*। अनेक

---

* बरेलीके पण्डित खुन्नीलाल शास्त्रीजी बौद्ध-धर्मके प्रज्ञापारमिता स्तोत्रका पाठ करने लगे जिसका फल यह है कि उसके विशेष पाठसे प्रज्ञाका लाभ होता है। उनके निकट भुवर्लोकके विघ्न-कर्ता अदृश्यदेव संन्यासी बनकर आने लगे और वे यही अनुरोध करने लगे कि आप अपने मार्गको त्यागकर हमारे विरुद्ध मार्गको ग्रहण करें तो आपको बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ मिलेंगी और उन्होंने सिद्धियाँ प्रत्यक्ष दिखला भी दीं। श्रीपण्डितजीने करीब २०० पृष्ठके 'विघ्न-दर्शन' नामक पुस्तकमें इस विघ्नके अनुभवका वर्णन किया है। परिणाम यह हुआ कि उक्त पण्डितजीको क्रोध आ गया और इस कारण उनका अनुष्ठान व्यर्थ हो गया। पण्डित-जी दिनमें भी विघ्न-कर्ताको आँखोंसे देखते थे, उनकी बातोंको सुनकर वार्तालाप करते थे किन्तु वहाँ वर्तमान अन्य लोग न विघ्न-कर्ताको देखते और न उनकी बात सुनते।

ऋषियोंकी तपस्यामें देवताओंके विघ्न डालनेकी कथा प्रसिद्ध है। श्रीमद्भागवत-पुराणमें लिखा है कि अत्यन्त सात्त्विक देव-गण स्वर्गमें रहते हैं* (स्क० ३ अ० ६ श्लो० २७) और भुवर्लोकमें तमोगुण-प्रधान देव रहते हैं (स्क० ३ अ० ६ श्लो० २७ और २८)। उक्त स्कन्धके अ० १० के श्लोक २५ से २८ तकमें लिखा है कि जलचर, थलचर, पशु अर्थात् तिर्यक्-जातिकी सातवीं सृष्टि-के बाद आठवीं मनुष्य-सृष्टि है। मनुष्यके बाद दशवीं सृष्टि देवताओंकी है जो भी स्थावर, पशु और मनुष्यके समान वैकृत-सृष्टि है और ये देवता प्राकृतसर्गके सत्त्व-गुण-प्रधान स्वर्ग-लोकके देवतासे अवश्य पृथक् हैं। इनमें देवता, पितर, दैत्य, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, सिद्ध, चारण, विद्याधर, किन्नर, किम्पुरुष हैं। इनके नामसे स्पष्ट है कि ये रजोगुणात्मक भुवर्लोक अर्थात् भू और स्वर्लोकके बीचके अन्तरिक्षलोकके निवासी हैं। इन रजोगुणी देवोंके वासके कारण भुवर्लोक भयानक मायिक लोक है। अतएव मनुष्यके निमित्त यह परम सौभाग्यका विषय है कि मनुष्यके शरीरमें स्नायुके पूरे तने रहनेके कारण भुवर्लोकमें जाने-आनेका द्वार बन्द है, जिसके कारण न भूतात्मा भुवर्लोकमें जाग्रत्-अवस्थामें जा सकता है और न भुवर्लोकके क्षुद्र देव इसपर साक्षात् आक्रमण कर सकते हैं अथवा अपना दुष्ट प्रभाव डाल सकते हैं। यदि ऐसा हो सकता तो मनुष्यकी बड़ी क्षति होती। साक्षात् सम्बन्ध होनेसे वे लोग मनुष्यके तमोगुण-रजोगुणके

* आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे।

स्वभावकी वृद्धिकर उसको कुत्सित आचरणके करनेमें प्रवृत्त करते हैं। किन्तु जो सांसारिक सिद्धि अथवा चमत्कार चाहते हैं वे निकृष्ट आधिभौतिक अथवा वैसी ही आधिदैविक साधना-द्वारा अपने स्नायुमण्डलको ढीले-ढाले करके बन्द द्वारको खोल देते हैं जिसके कारण क्षुद्र देवताओंके साथ उनका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसके परिणाममें कभी-कभी किञ्चित् सांसारिक लाभ होते हैं किन्तु बहुत बड़ी पारमार्थिक हानि हो जाती है। जिनके इन्द्रिय और मन शुद्ध न होकर कलुषित हैं ऐसे लोग यदि सांसारिक सिद्धि या चमत्कार दिखलानेके निमित्त किसी प्रकारकी शारीरिक अथवा अन्य क्रिया जैसा कि सकाम-भावसे सकाम मन्त्रका अनुष्ठान, नासाग्र आदि किसी लक्ष्यपर दृष्टि स्थापन, भुवर्लोकके शब्दका सुनना ही जिसको अनाहत कहते हैं किन्तु यथार्थमें नहीं है अथवा ऐसी ही अन्य कोई सकाम भौतिक क्रिया करते हैं, तो उसके द्वारा उनका भुवर्लोकके साथ सम्बन्ध हो जाता है। ऐसा सम्बन्ध होनेपर वे भुवर्लोकके दृश्योंको देखते हैं, वहाँके देव-देवियोंसे बातें करते हैं, वहाँके क्षुद्र देव अपनी मायासे उन लोगोंको मायिक शिव, विष्णु, महाविद्या आदि ईश्वर-ईश्वरीके रूप धारणकर दिखलाते और उस रूपमें बातें करते हैं, किञ्चित् क्षुद्र सिद्धियाँ भी उन्हें प्राप्त होती हैं, जिनकी सहायतासे वे कुछ चमत्कार भी दिखला सकते हैं जैसा कि दूरसे सामग्रियोंका आ जाना आदि। किन्तु ऐसे सम्बन्धका यह परिणाम होता है कि साधकके हृदयमें जो काम-वासना गुप्तरूपमें थोड़ी बहुत रहती है वह बहुत बढ़ जाती है। जिसके कारण वह उसी काम-वासनाके

उपभोगमें लिप्त हो जाता है और इस प्रकार उसके आध्यात्मिक जीवनके विकासमें बहुत बड़ी बाधा पड़ती है। इस अवस्थामें वह भुवर्लोकसे ऊपर जानेमें असमर्थ हो जाता है। कभी ऐसे लोगोंकी ऐसी भयानक स्थिति हो जाती है कि उस जन्ममें सँभलनेपर भी विशेष उन्नति नहीं कर सकता। ऐसा साधक मरनेके बाद भुवर्लोकमें ही जाता है और वहींके क्षुद्र देवोंके साथ रहता है। इसी निमित्त श्रीभगवान्‌ने गीतामें ऐसे स्वभावको राक्षसी और आसुरी कहा है (९-१२) तथा यह कहा है कि भूतों (भुवर्लोकके तामसिक, राजसिक गण) के पूजनेवाले उन्हींको प्राप्त करते हैं (९-२५) और तामस-प्रकृतिवाले भूत, प्रेतका ही यजन करते हैं (१७-४)।

जीवात्मा जाग्रदवस्थामें नेत्रमें रहता है जिसका भूलोकसे सम्बन्ध है। स्वप्नावस्थामें कण्ठमें रहता है जिसका भुवर्लोकसे सम्बन्ध है। केवल सुषुप्तिमें जीवात्मा हृदयमें रहता है जिसका स्वर्ग-लोकसे सम्बन्ध है। भुवर्लोकके साथ सम्बन्ध-प्राप्त साधक अनेक प्रकारके दृश्य और चमत्कार प्रायः स्थूल नेत्रसे बाहर अथवा भीतर ललाटसे लेकर कण्ठके देशतकमें देखते हैं जो जाग्रत्-स्वप्न-अवस्थासे सम्बन्ध रखते हैं, जिसके मूल कारण सब मायिक हैं और यही उस साधनाकी निकृष्टताका प्रमाण है। ऐसे निकृष्ट साधकको हृदयमें प्रकाश अथवा देवके दर्शन नहीं होते, क्योंकि वहाँ (हृदयमें) भुवर्लोकवासियोंका गम्य नहीं है—हृदयमें सात्त्विक दर्शन केवल सात्त्विक साधकको सात्त्विक भावकी प्राप्तिसे ही होते हैं अन्यथा नहीं। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३३५ में श्रीनारदजीका वाक्य यों है—

एभिर्विशेषैः परिशुद्धसत्त्वं कस्मान्न पश्येयमनन्तमीशम् ॥१॥

और अध्याय ३५१ में श्रीब्रह्माजीका वाक्य रुद्रके प्रति यों है—

न स शक्यस्त्वया द्रष्टुं मयान्यैर्वापि सत्तम ॥२॥

अर्थात्—मैं (नारद) इन गुणोंसे विशेष शुद्ध होकर भी क्यों इस अनन्त ईश्वरको नहीं देखता ? हे रुद्र ! तुम, मैं अथवा अन्य-द्वारा वे देखे नहीं जा सकते हैं । महाभारतके शान्तिपर्व अ० ३३६ में कथा है कि श्वेतद्वीपमें जानेपर सनकादिकोंको भी श्रीभगवान्‌का दर्शन न हुआ और कहा गया कि विना ऐकान्तिक भक्तिके दर्शन नहीं मिलता जिसके निमित्त उन लोगोंको लोक-हितकर कर्म करने चाहिये । श्रीमद्भगवद्गीता (११ । ४६, ५२, ५३ और ५४) में भी स्पष्ट है कि सिवा अनन्य भक्तिके अन्य साधनासे भगवत्-दर्शन नहीं मिलता है। ऐसी अवस्थामें केवल साधारण शारीरिक साधनासे श्रीभगवद्दर्शन होना असम्भव है। आजकल यह एक विचित्र दशा है कि साधक भगवत्-सेवाद्वारा श्रीभगवान्‌के तुष्टि-साधन करनेके बदले श्रीभगवान् ही दर्शन देकर साधककी तुष्टि करें यही चाह रखते हैं जो भक्ति-भावके विरुद्ध है—

स्थूल-शरीरका चेतनाभिमानी

सूक्ष्म-शरीरके आवरणकी भाँति भूलोकमें स्थूल-शरीर है जो पञ्चीकृत पञ्चभूतके स्थूल अंशका बना हुआ है। इस स्थूल जगत्‌की समष्टि-चेतन अभिमानी वैश्वानर पुरुष है जो भुवर्लोकके

समष्टि-चेतनाभिमानी जिसका प्रतिबिम्ब है। उसी प्रकार हम लोगोंके व्यष्टि-स्थूल-शरीरका अभिमानी व्यष्टि-चेतन बहिःप्रज्ञ है जो सूक्ष्म-शरीरका अभिमानी व्यष्टि-चेतन अन्तःप्रज्ञका प्रतिबिम्ब है। यह स्थूल-जगत्में इस स्थूल-शरीरमें रहकर बाह्य विषयके सुख-दुःख, शोक-मोहका अनुभव करता और संसृतिमें पड़कर कर्म-फल भोगता है।

प्रणवकी मात्रा

समष्टि-चेतनमें प्रणवका प्रथम पाद 'अ' वैश्वानर है, द्वितीय पाद 'उ' हिरण्यगर्भ है, तृतीय पाद 'म्' सूत्रात्मा है और अर्ध-मात्रा मूल-प्रकृति है, उसी प्रकार मनुष्यके व्यष्टि-चेतनमें 'अ' बहिःप्रज्ञ है, 'उ' 'तैजस है, 'म्' प्राज्ञ है और दैवी प्रकृति अर्धमात्रा है। शब्दकी दृष्टिसे बहिःप्रज्ञ वैखरी वाक् है, अतः अन्तःप्रज्ञ (तैजस) मध्यमा, प्राज्ञ पश्यन्ती और तुरीय परा वाणी है। उसी प्रकार समष्टि-चेतन वैश्वानर कला, हिरण्यगर्भ शक्ति, सूत्रात्मा बिन्दु और मूल-प्रकृति नाद है।

पञ्चकोश

शरीरके तीन विभागके सिवा पञ्चकोशका विभाग भी किया गया है। पाँच कोश ये हैं— १ अन्नमय, २ प्राणमय, ३ मनोमय, ४ विज्ञानमय और ५, आनन्दमय। अन्नमय कोश पञ्च-महाभूतोंका बना हुआ है जो स्थूल होनेके कारण अन्नादि स्थूल पदार्थोंके खानेसे बढ़ता है। प्राणमय कोश कर्मेन्द्रिययुक्त पाँच प्राणका बना हुआ है जिसका कार्य बाह्य जगत्की घटनाओंका ज्ञान

मनोमय कोशको कराना है। शरीरपर जो कुछ बाह्य जगत्से स्पर्श जैसा कि अघातादिद्वारा प्रभाव पड़ता है उसका अनुभव मनोमय कोशको करवाना प्राणमय कोशका कार्य है। मनोमय कोश ज्ञानेन्द्रियोंका बना हुआ है और इसका कार्य बाह्य घटनाओंके ज्ञानको पाकर उनपर विचार करना, एकको दूसरेके साथ मिलाना और दूसरेसे पृथक् करना, अनेक घटनाओंके अनुभवोंका एक दूसरेके साथ सम्बन्ध मालूम करना इत्यादि हैं, जिनके कारण विचार-शक्ति, तर्क-शक्ति, स्मरण-शक्ति और अनुमान करनेकी शक्ति इत्यादि प्राप्त होती हैं। ज्ञानेन्द्रिय-युक्त बुद्धिको विज्ञानमय कोश कहते हैं, जो मनोमय कोशकी भावनाओंका सार निकालता है और उनमें एकत्वका निश्चय करता है। आनन्दमय कोशमें आनन्दकी प्राप्ति होती है जो केवल अनुभवगम्य है। कोश और शरीरकी एकता यों है—अन्नमय कोश और प्राणमय कोश स्थूल-शरीर हैं, मनोमय कोश सूक्ष्म-शरीर है और विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश कारण-शरीर है। कोई सूक्ष्म-शरीरको प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशका बना हुआ मानते हैं। इस समस्त सृष्टिमें महेश्वर और उनसे अभिन्न उनकी दो प्रकृतियाँ—ये ही तीनों सबके मूल हैं और सब कुछ इन्हीं तीनोंके रूपान्तर हैं।

तीन अवस्था

स्थूल-शरीरका अभिमानी जीवात्मा विश्व जाग्रत्-अवस्थामें कार्य करता है, सूक्ष्म-शरीरका अन्तःप्रज्ञ

स्वप्नावस्थामें कार्य करता है और कारण-शरीरके प्राज्ञकी अवस्था सुषुप्तिके समान है जिसकी स्मृति जाग्रत्-अवस्थामें ऐसी होती है कि 'सुखं मस्वाप न किञ्चिद्वेदिषं' अर्थात् सुखसे सोये, कुछ भी जाना नहीं। सुषुप्तिमें सात्त्विक आनन्द मिलता है किन्तु वहाँ अविद्या (अज्ञानता) वर्तमान रहती है। सुषुप्ति-अवस्थामें अनेक सात्त्विक उत्तम अनुभव होते हैं—वह एकदम लय-अवस्थाकी भाँति नहीं है किन्तु साधारण लोगोंको जाग्रत्‌में उसकी स्मृति नहीं रहती है। जाग्रत् और स्वप्नकी अवस्थामें भी अन्तराय है अर्थात् जाग्रत्-अवस्थाके बाद कुछ समय लय अर्थात् बेसुध होकर स्वप्नावस्थाका प्रारम्भ होता है, इसीलिये जाग्रत्‌की स्मृति जीवात्माको स्वप्नावस्थामें नहीं रहती है। इसी प्रकार स्वप्नावस्थाके पश्चात् लय होकर सुषुप्ति प्रारम्भ होती है और उसकी समाप्तिके बाद भी लयकी अवस्थामें प्राप्त होकर स्वप्नावस्था अथवा जाग्रत्-अवस्था प्रारम्भ होती है, इसीलिये सुषुप्तिके अनुभवकी स्मृति नहीं रहती है किन्तु प्राज्ञको उनकी स्मृति रहती है। आत्मज्ञानके साधनद्वारा तीनों अवस्थाओंमें एकता आ जाती है अर्थात् अन्तरायके लयकी अवस्थाके बिना ही एक अवस्थाके पश्चात् दूसरी अवस्था प्रारम्भ होती है और ऐसा होनेपर स्मृतिका लोप नहीं होता है। ऐसे साधक स्वप्नावस्थामें भुवर्लोकमें जाकर वहाँका ज्ञान प्राप्त करते हैं और वहाँ भी जीव-हितकर कार्य करते हैं। भूलोक और अन्तरिक्षलोकोंके वासियोंका बहुत बड़ा उपकार हम-लोगोंकी इच्छित उत्तम भावना और उत्तम कर्मोंद्वारा होता

है जिसके कारण सात्त्विक देवगण प्रसन्न होकर हमलोगोंकी सहायता करते हैं। उसी प्रकार कुत्सित भावना और कुत्सित कर्मोंद्वारा उनका और सृष्टिका अपकार होता है जिसके कारण अन्तरिक्षके राजसिक-तामसिक देवगण हमलोगोंके प्रति तुल्यताके कारण आकर्षित होकर हमलोगोंके दुष्ट स्वभावकी वृद्धि कर हमलोगोंकी हानि करते हैं।

गीतामें त्रिपुटी और चतुष्पादका परिचय

श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय १३ के १ से ६ तक और १२ वें और १७ वें श्लोकमें स्थूलशरीरको क्षेत्र, उक्त शरीरके अभिमानी चेतन विश्व (विश्वाभिमानी) को क्षेत्रज्ञ, परब्रह्मको ज्ञेय और दैवी-प्रकृति (विद्या) को ज्ञान कहा गया है। फिर श्लोक १६ से २२ तकमें प्रकृतिसे मूल-प्रकृति, पुरुषसे परा-प्रकृति और महेश्वरसे परम कारण परमात्मा परमेश्वरका वर्णन है। अध्याय १४ के ३ और ४ श्लोकोंमें मूल-प्रकृतिको 'महद्ब्रह्म' अर्थात् योनि कहा है, वहाँ बीजसे उस सनातन बीज (परा-प्रकृति) से तात्पर्य है जिससे सूत्रात्माकी उत्पत्ति होती है जो फिर सब चराचर भूतोंको उत्पन्न करता है। यहाँ अपनेको श्री-भगवान्‌ने पिता अर्थात् महेश्वर कहा है। अध्याय १५ के १६ और १७ श्लोकोंमें क्षरसे विश्वब्रह्माण्ड, अक्षरसे मूल-प्रकृति और उत्तम पुरुषसे परमात्मा और ईश्वरसे महेश्वरका तात्पर्य है। इसी परम कारण महेश्वरको महाविष्णु, वासुदेव और केवल विष्णु भी कहते हैं। महेश्वर, परा-प्रकृति और अपरा-प्रकृति एक ही हैं, क्योंकि सृष्टिके पूर्व दोनों प्रकृतियाँ ईश्वरमें

निहित थीं और सृष्टिके अन्तमें फिर उनमें निहित हो जायँगी।
गीताका वचन है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३।१९)

प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जानो।

सिद्धान्तोंकी एकता

ऊपर कथित सिद्धान्तके विचारनेसे सांख्य-वेदान्त, द्वैत-अद्वैत और विशिष्टाद्वैतके वादोंका भेद बहुत कुछ मिट जाता है और उनमें एकताका बोध होता है। सांख्यका अनेक पुरुष कारण-शरीर-चेतनाभिमानी प्राज्ञ है जो सृष्टि-कालमें प्रत्येक शरीरमें पृथक् और अनेक अवश्य है। यही वेदान्तका जीवात्मा है जो अनादि अवश्य है, क्योंकि सृष्टिके अनादि होनेके कारण यह नहीं कह सकते कि कब सर्वप्रथम जीवात्मा-का पहिले पहिल प्रादुर्भाव हुआ, जिसके पूर्व वह नहीं था। परम कारण परमात्माकी दृष्टिसे अद्वैत अवश्य है किन्तु सृष्टि-की दृष्टिसे तीनों (जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति) के एक होनेपर भी तीनोंके भिन्न-भिन्न कार्य सृष्टिमें हैं। अतएव सृष्टिके कार्यमें तीनोंको पृथक्-पृथक् मानना ही पड़ेगा, यद्यपि मूल कारणकी दृष्टिसे तीनों एक हैं। मनुष्यके कारण-शरीरमें जो उसका अभिमानी प्राज्ञ है वह परमात्माका अंश अथवा प्रतिबिम्ब (१५।७) होनेसे कारणकी दृष्टिसे परमात्मासे पृथक् नहीं है किन्तु सृष्टिके विकासके कालमें उसकी उपाधि कारण-शरीरकी दृष्टिसे भिन्न अवश्य है। अविद्याकी निवृत्ति-

के लिये विद्याकी प्राप्तिकी चेष्टा और फिर ईश्वरमें युक्त होनेकी साधना, उपाधिकी दृष्टिसे अपनेको ईश्वरसे भिन्न समझकर ही, करना पड़ेगा, (यद्यपि परम कारण शुद्ध निर्विशेष ब्रह्मकी दृष्टिसे अभिन्नता है) अन्यथा चेष्टा व्यर्थ होगी और लक्ष्यकी प्राप्ति न होगी। उपाधिकी मलिनता बहुत बड़ी बाधक है जिसकी शुद्धि साधनाका मुख्य अंग है। यद्यपि जीवात्मा-अंश अपने कारण परमात्मासे कारण-कार्यकी दृष्टिसे पृथक् नहीं है किन्तु अंश अंशके भावमें रहनेतक सम्पूर्ण (अंशी) के तुल्य कदापि नहीं हो सकता। इस कारण विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तका भी स्थान सृष्टिमें है। श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजीने अपने षट्पदी-स्तोत्रमें ठीक ही लिखा है कि—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥ ३ ॥

हे नाथ! यद्यपि (कारणकी दृष्टिसे) भेद नहीं है तथापि मैं तुम्हारा हूँ किन्तु तुम मेरे नहीं हो, क्योंकि समुद्रका तरङ्ग है किन्तु तरङ्गका समुद्र नहीं है।

मनुष्य-जीवनके विकासका क्रम

सृष्टिका क्रम यह है कि प्रथम चैतन्यकी अधोगमनगति आरम्भ होती है जिसमें प्रकृति सूक्ष्मसे स्थूल होती है (जो सृष्टि-विकासके निमित्त आवश्यक है) जिसके कारण उसके भीतरके चैतन्य-तत्त्वकी शक्ति और प्रकाशका ह्रास बाह्यकी दृष्टिसे होता है, (किन्तु यथार्थमें। नहीं) जो उसके निमित्त बाह्यदृष्टिसे अधोगमन है; किन्तु प्रकृतिकी स्थूलताकी अन्तिम

सीमा पहुँच जानेपर फिर ऊर्ध्वगति प्रारम्भ होती है अर्थात् स्थूल प्रकृति सूक्ष्म बनायी जाती है और जैसे-जैसे प्रकृति सूक्ष्म और शुद्ध होती जाती है वैसे ही वैसे भीतरके चेतनकी शक्ति और प्रकाश अधिक-अधिक उपाधिकी सूक्ष्मताके कारण प्रकट होने लगते हैं। मनुष्य-सृष्टि इस ऊर्ध्वगतिकेसर्गमें है, अतएव मनुष्यका धर्म है कि उपाधियोंकी प्रकृतिको शुद्ध और सूक्ष्म बनाकर जीवात्मामें जो दैवी अर्थात् विद्या-शक्ति सुप्तकी भाँति निहित हैं उनको जागृतकर उनकी शक्ति और प्रकाशका विशेष विकास करे। सर्गके अधोगमन-कार्यमें मूल-प्रकृति मुख्य है किन्तु ऊर्ध्व-गमन-कार्य इस दैवी अर्थात् गायत्री-शक्तिद्वारा होता है। ऊर्ध्व-गमनमें भी दोनों मार्गोंका आश्रय लिया जा सकता है। जो लोग दक्षिणमार्गकी अधिष्ठात्री गायत्री और महेश्वरको नहीं मानते, वे मूल-प्रकृतिके मार्गसे परब्रह्ममें सम्मिलित होना चाहते हैं जिसके कारण वे महा तममें आवृत रह जाते हैं और तमके पार नहीं जा सकते, क्योंकि प्रकाश देनेवाली और त्रिगुणसे त्राण करनेवाली जो परा-शक्ति है उसका और उसके पति महेश्वरका आश्रय उनको नहीं मिलता। विना उस दिव्य प्रकाशकी सहायताके कोई भी प्रकृतिके तमको अतिक्रम कर नहीं सकता। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ७ में लिखा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त दुस्तर है। जो मुझको अनन्यभावसे भजते हैं वही इस मायाको तरते हैं। मूल-प्रकृतिकी त्रिगुणात्मिका शक्ति नीचे ले जानेवाली है। इसकी

सहायतासे कोई ऊपर जा नहीं सकता। किन्तु गुणमयी प्रवृत्तिसे उपकार यह होता है कि इसको निग्रह और शुद्ध करनेसे जीवात्माको दिव्य शक्तियोंका विकास होता है जो अन्यथा कदापि सम्भव नहीं है। परब्रह्म निर्विशेष होनेके कारण जीवात्मा-द्वारा कदापि ज्ञेय नहीं है। अतएव उसकी साक्षात् प्राप्ति अथवा ज्ञान उसको कदापि हो नहीं सकता। इस सृष्टिका आदि-कारण परमेश्वर हैं और वही लक्ष्य हैं, अतएव जीवात्माको उसीके ज्ञान और प्राप्तिका लक्ष्य रखना चाहिये। किन्तु उस महेश्वरकी प्राप्ति उसकी परा-शक्ति गायत्रीकी सहायताके विना हो नहीं सकती, अतएव सबसे प्रथम यत्न उस विद्या-शक्तिके आश्रयमें जानेका करना चाहिये।

अब यह विचारणीय है कि वह कौन है, जो विद्या-शक्तिकी सहायतासे महेश्वरमें सम्मिलित होगा? वह कारण-शरीरका अभिमानी जीवात्मा ही है जो महेश्वरका साक्षात् अंश है और इस कारण—अपने कारण-महेश्वर—में सम्मिलित हो सकता है। यह जीवात्मा अविनाशी है और जन्म-जन्ममें विद्यमान रहता है, क्योंकि इसकी उपाधि कारण-शरीर भी बीजकी भाँति संसृति-काल—जन्म-जन्म—में रहता है। यह मरनेके बाद नाश नहीं होता। स्थूल-शरीरके नष्ट होनेपर सूक्ष्म-शरीर भी कुछ दिनोंके बाद नष्ट हो जाता है किन्तु कारण-शरीरका नाश नहीं होता और प्रत्येक जन्मका उत्तमोत्तम संस्कार और आवश्यक अनुभव इस शरीर और उसके अभिमानी चेतनमें सञ्चित रहता है, अतएव यह बीजरूप ख़ज़ाना है। इसी कारण किसी-किसीको जन्मान्तरकी स्मृति होती है।

अन्तःप्रज्ञ (सूक्ष्म-शरीराभिमानी) और विश्व (स्थूल-शरीराभिमानी) जीवात्मा प्राज्ञके केवल मजदूरके समान हैं जो सृष्टिमें कार्य करनेके लिये भेजे जाते हैं और प्रत्येक जन्मके बाद विश्व अपना अनुभव-रूप उत्तम फल तेजोभिमानी (सूक्ष्म-शरीरका अभिमानी अन्तःप्रज्ञ) को देकर और तेजोभिमानी प्राज्ञको देकर दोनों लय हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि तीनोंमें केवल प्राज्ञ ही मुख्य है और वही यथार्थमें 'आत्मा' अथवा 'जीवात्मा' है। किन्तु कारण-शरीरके अभिमानी इस प्राज्ञरूप आत्माकी स्थिति साधारण लोगोंमें आजकल अविद्याके कारण सुषुप्तिके समान है और इसको अन्तर्गत (भुवर्लोक) अथवा बाह्य-जगत् (भूलोक) का साक्षात् ज्ञान नहीं है। इसका अस्तित्व भी साधारण लोगोंको अर्थात् उनके स्थूल-शरीरके जीवात्माको ज्ञात भी नहीं है। ज्ञानयोगका मुख्य उद्देश्य इस प्राज्ञ-रूप आत्माका ज्ञान प्राप्तकर उसमें स्थिति प्राप्त करना है। साधारण लोगोंमें यह जीवात्मा 'सुषुप्ति' अवस्थाके समान अज्ञानमें पड़ा हुआ है। किन्तु ज्ञानयोगका उद्देश्य विद्याद्वारा अविद्याके अज्ञानको नाशकर इसको जागृत करना है। कारण-शरीरका अभिमानी जीवात्मा जागृत होनेपर ही प्राज्ञ कहा जाता है। जागृत होकर प्राज्ञ अर्थात् समाधिकी अवस्थाको प्राप्तकर अविद्याके तमको नाश करनेपर ही यह जीवात्मा महेश्वरकी ओर अग्रसर होता है और तभी इसको उसकी प्राप्ति होती है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें जीवात्मा अविद्यामें ही रहता है। किन्तु जब वह विद्याकी छायामें जाता है तभी उसकी संज्ञा विश्व, तैजस और प्राज्ञकी होती है, जैसा

पहले कहा जा चुका है। प्राज्ञ महेश्वरका साक्षात् अंश अथवा प्रिय पुत्र अथवा प्रिय सहचरी है जो उनकी परा-शक्तिरूप प्रकाशसे शुद्ध होकर उसकी सहायताम्से ही अपने परम प्रियतम महेश्वरकी गोदमें जा सकती है और ब्रह्मानन्दके आनन्दका लाभ कर सकती है।

ज्ञानयोगका लक्ष्य

परमात्मा एक है और वही अपनी दो प्रकृतिद्वारा संसारका मूल है जो बाह्य-दृष्टिसे नाना भावसे भासता है। परा-शक्ति चेतनात्मक द्रष्टा है और मूल-प्रकृति सब जड़-उपाधियों और क्षेत्रों अर्थात् दृश्यका कारण है। जीवात्मा (प्राज्ञ) यथार्थमें साक्षात्‌रूपसे अक्रिय है (कुछ नहीं करता) और सब कर्म प्रकृतिके गुणोंके द्वारा किये जाते हैं, जिस गुणमयी प्रकृतिने जीवात्मापर परदेकी भाँति होकर उसको आच्छादन कर रक्खा है। किन्तु स्मरण रहे कि जड़-प्रकृति परा-शक्तिके ही प्रकाशसे कार्य कर सकती है, अन्यथा नहीं। एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें परिवर्तन (बदलना), जन्म, वृद्धि और नाश यह जो संसारका चक्राकार सतत परिवर्तन है वह प्रकृतिके गुणोंका कार्य है। गुण चक्राकारकी भाँति घूमते हैं किन्तु शुद्ध आत्मा इनसे असङ्ग और निर्लेप रहता है। जीवात्मा अविद्याके सङ्गके कारण अपने यथार्थ स्वरूपको भूलकर, अपनेको नाम-रूपात्मक मान मायाके कार्योंको अपनेमें अध्यारोप करता है, उनका कर्ता अपनेको जानता है और ममत्व और अन्यत्वके कारण उनमें आसक्ति रखता है। अतएव वह फँस जाता है। सब बाह्य-पदार्थ नाशवान् होनेके कारण असत् हैं, केवल एक ब्रह्म सत् है जिसके संकल्पमें यह विश्व

है, अतएव यह सब उसकी लीला है। पूर्वमें भी कहा गया है कि ज्ञान-मार्गका लक्ष्य क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान प्राप्त करना है। जैसा कि क्षेत्र क्या है और क्षेत्रोंमें जो क्षेत्रज्ञ (विश्व, तैजस और प्राज्ञ) हैं वे क्या हैं ? क्षेत्र और क्षेत्रज्ञमें क्या सम्बन्ध है? इत्यादिका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना है। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १३ के श्रीभगवान्के वाक्यके प्रथम श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका उल्लेख है और तब दूसरा श्लोक यों है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

हे भारत ! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही मेरे मतमें (यथार्थ) ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि साधकको सर्वप्रथम अपनी आत्मामें स्थिति पानी चाहिये जिसके बाद ही श्रीपरमात्मासे सम्मिलन सम्भव है, अन्यथा नहीं। और जितने लक्षण और सद्गुणको ज्ञान कहते हैं अर्थात् जिनके अभ्यास और प्राप्तिसे ज्ञान प्राप्त होता है उनका वर्णन गीताके अध्याय १३ के श्लोक ७ से ११ तकमें है जैसा कि अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा आदि जिनका उल्लेख पूर्वमें साधन-चतुष्टय-प्रकरणमें हो गया है। इनके अभ्यास और प्राप्तिका यत्न करना ज्ञानयोगमें मुख्य है किन्तु शोक है कि आजकल साधकोंका ध्यान इनपर नहीं है।

आचार्य और श्रवण, मनन आदिका लक्षण

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ आदिके विषयमें सिद्धान्त-वाक्योंका उपदेश आचार्य-द्वारा पाने (श्रवण करने) पर उनके मनन-निदिध्यासन* करनेमें

* 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'
(बृहदारण्यक उपनिषद्)

साधकको प्रवृत्त होना चाहिये और उसमें तबतक प्रवृत्त रहना चाहिये जबतक कि उसको जीवात्माका अपरोक्ष ज्ञान कोशों और शरीरोंसे पृथक् न हो जाय। इसी मनन-निदिध्यासनके अभ्यासको साधारणतः ज्ञानयोग कहते हैं। ज्ञानका उपदेश ऐसे आचार्यसे प्राप्त करना चाहिये जो स्वयं तत्त्वदर्शी हैं अर्थात् जिनका ज्ञान अपरोक्ष है। केवल शास्त्रके ज्ञातासे उपदेश लेनेसे ज्ञानकी प्राप्ति न होगी। केवल ग्रन्थके पठन-पाठन और शुष्क तर्कसे यथार्थ ज्ञानका लाभ नहीं हो सकता, जैसा कि आज-कल अधिकांश लोगोंका निश्चय है। इस समयमें ऐसे तत्त्व-दर्शी आचार्य जिनका अपरोक्ष ज्ञान है, विरले हैं। इस कारण उपयुक्त आचार्यके न मिलनेसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति साधारणतः लोगोंको नहीं होती है। ज्ञानके विषयोंको एकाग्र और अनन्य-चित्त हो चिन्तन करना मनन है, जिसके अनेक कालके अभ्यास-के पश्चात् साधकको उनमें संशय और विपरीत भावना तनिक भी नहीं रहती। मननमें सिद्धान्तोंके पूर्वापर विषयोंका भी चिन्तन किया जाता है जो अल्पकालके लिये नहीं होता, किन्तु ऐसा मनन लगातार अनेक कालतक सतत किया जाता है और व्यवहारमें भी उस मननात्मक निश्चयको बनाये रहना पड़ता है और उसीके अनुसार व्यवहारमें भी बर्तना पड़ता है जो ज्ञानयोगमें अत्यन्तावश्यक है। मननद्वारा जो संशय-रहित—निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त हुआ, उसके निचोड़ (मुख्य सिद्धान्त) को लेकर उसपर निरन्तर तबतक ध्यान करते ही

अरे! आत्माको देखना, सुनना, मनन करना और निदिध्यासन करना चाहिये।

रहना चाहिये जबतक कि वह ज्ञान प्रत्यक्ष न हो जाय, यही निदिध्यासन है। जैसा कि यदि क्षेत्रज्ञको क्षेत्रसे पृथक् देखने-की चेष्टा चिन्तन-मननद्वारा की जाय तो प्रारम्भमें उसमें दोनोंकी भावना वर्तमान रहेगी। क्षेत्रको असत् भावनाकर उसमेंसे चित्तको हटाकर अनेक कालतक केवल क्षेत्रज्ञमें संलग्न करने-की निरन्तर चेष्टा करनेपर फिर केवल क्षेत्रज्ञहीकी भावना रह जायगी। इसके बाद निदिध्यासन प्रारम्भ होगा और उसके द्वारा शरीरसे परे शुद्ध चेतनरूप केवल एक क्षेत्रज्ञमें मनो-निवेश और ध्यान करनेसे उनका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होगा।

ज्ञानयोगमें जैसे साधन-चतुष्टयकी प्राप्ति आवश्यक है, उसी प्रकार उपदेश पानेपर मनन-निदिध्यासनका निरन्तर अभ्यास करना भी परमावश्यक है। शोक है कि जैसे लोग साधन-चतुष्टयकी प्राप्तिके निमित्त यत्न नहीं करते, वैसे ही मनन-निदिध्यासनका भी अभ्यास नहीं करते। परिणाम यह होता है कि न वे अधिकारी होते और न ज्ञान प्राप्त करते हैं, विना अविरल मनन-निदिध्यासनके ज्ञानका प्रकाश कदापि हो नहीं सकता। ज्ञान केवल विश्वास नहीं है अथवा बुद्धिकी धारणा-मात्र नहीं है, किन्तु यह ऐसा है जैसा कि प्रकाश होनेपर अन्धकारका नाश हो जाना और जो पहिले नहीं देखनेमें आता था उसको प्रत्यक्ष देख लेना। दीर्घ निदिध्यासनसे कारण-शरीरके जीवात्माका प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है। लिखा है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वेताश्वतरोपनिषत्)

अपने शरीरको नीचेकी लकड़ी मान और प्रणव (ॐ) को ऊपरकी मान अनेक कालतक चलते हुए ध्यानरूपी रगड़द्वारा परमात्माको वहाँ छिपे हुए की नाईं देखो। यही यथार्थमें निदिध्यासन है और इसमें प्रणवके जप और उसके अर्थ (जो माण्डूक्योपनिषद्में कथित है) की भावना और ध्यान परमावश्यक है। योगसूत्रका भी कथन है—'तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।' उस (ईश्वर) का ज्ञापक प्रणव है। प्रणव-का जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये।

प्रथम मनन-निदिध्यासनद्वारा अन्नमय कोशका ज्ञान प्राप्त करना होगा, फिर उसके बाद प्राणमय कोशका, फिर मनोमय और विज्ञानमय कोशका और ऐसे ही क्रमशः एक कोशके बाद दूसरे कोशके अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त करते-करते विज्ञानमय कोश-तक पहुँचनेपर उसके ऊपर क्या है, इसका ज्ञान (भास) आनन्दमय कोशमें पहुँचनेसे प्राप्त होता है। तैत्तिरीयोपनिषद्के तृतीय भृगुवल्लीके प्रथम अनुवाकमें इस ज्ञानयोगकी इस साधनाका भली भाँति वर्णन है—वरुणके पुत्र भृगुने अपने पितासे ब्रह्मके विषयमें उपदेश चाहा। वरुणने भृगुको प्रथम अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाचाको समझाकर ऐसा कहा 'जिससे यथार्थमें इन भूतोंकी उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होनेपर जिसके द्वारा ये जीते हैं, जिसमें चले जाते हैं और प्रवेश करते हैं, उसीके जाननेकी चेष्टा करो, वही ब्रह्म है।' भृगुने पिताकी आज्ञाके अनुसार चिन्तन किया और यह निश्चय किया कि अन्न ब्रह्म है, क्योंकि उसने सोचा कि यथार्थमें अन्नद्वारा ही इन भूतोंकी उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होनेपर अन्नद्वारा ही जीते

हैं, अन्नमें ही जाते हैं और प्रवेश करते हैं। ऐसा निश्चयकर भृगुने फिर अपने पिताके निकट जा ब्रह्मके विषयमें उपदेश चाहा, उन्होंने कहा 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।' तप अर्थात् मनन-ध्यानद्वारा ब्रह्मके पानेकी चेष्टा करो, तपस्या ब्रह्म है। भृगुने फिर मनन-निदिध्यासन किया और तब निश्चय किया कि प्राण ब्रह्म है और ऐसा निश्चयकर फिर अपने पिताके निकट जाकर ब्रह्मके विषयमें उपदेश चाहा। फिर पिताने पहिलेकी भाँति वही कहा कि तप (मनन-ध्यान) द्वारा ब्रह्मके पानेकी चेष्टा करो, तपस्या (मनन-ध्यान) ब्रह्म है। फिर भृगुने मनन-ध्यान किया और तब निश्चय किया कि मन ब्रह्म है। ऐसा निश्चयकर उन्होंने फिर अपने पितासे ब्रह्मके विषयमें उपदेश चाहा, पिताने फिर वही कहा जो पहिले कहा था। फिर भृगुने मनन-ध्यान किया और निश्चय किया कि विज्ञान ब्रह्म है। फिर पिताके निकट उपदेशके निमित्त जानेपर पिताने उनको फिर पहिलेकी भाँति वही कहा। फिर भृगुने मनन-ध्यान-रूप तप किया और निश्चय करके जाना कि आनन्द ब्रह्म है, जिस आनन्दसे यथार्थमें ये भूतगण उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर उसी (आनन्द) से जीते हैं फिर उसी आनन्दकी ओर जाते हैं और उसीमें प्रवेश करते हैं। ऊपरकी कथासे प्रकट होता है कि वरुण आचार्यके उपदेशानुसार भृगुने मनन-निदिध्यासनद्वारा प्रथम बार अन्नमय कोशको जाना, फिर क्रमशः प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोशका ज्ञान प्राप्तकर अन्तमें आनन्दमय कोशमें जीवात्माको अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थिति पाकर वे कृतकृत्य हुए। ऐसे ही ज्ञान-योगी धीरे-

धीरे प्रत्येक कोशका ज्ञान प्राप्तकर अन्तमें आनन्दमय कोश अथवा कारण-शरीरमें जा जीवात्मामें स्थित होता है। किन्तु यह स्थिति यथार्थ और प्रत्यक्ष है जो निदिध्यासनके दीर्घ अभ्याससे होती है। केवल बुद्धिद्वारा निश्चय करना ज्ञान नहीं है और न वह आत्मप्राप्ति है। इस स्थितिकी प्राप्तिसे आत्मानन्दका अनुभव होता है जैसा कि गीता अध्याय ६ श्लोक २१ और २२ का कथन है।

ज्ञानीकी दृष्टि

ज्ञानी सर्वत्र एक आत्माको देखता है, अतएव उसको आत्माकी दृष्टिसे सब समान हैं। वह नीचमें भी और उच्चमें भी, धूलके परमाणुमें भी और सूर्यमें भी, अधममें भी और उत्तममें भी, दुष्टाचारीमें भी और धर्मिष्ठमें भी, ऐसे ही सर्वत्र, एक ही आत्माको देखता है। संसारके भिन्न-भिन्न पदार्थ, अवस्था और भाव आदिके ठीक रूप और तत्त्वके ज्ञानकी प्राप्ति करनेकी आवश्यकता है और यही नानात्वकी आवश्यकता है जिसके बाद नानात्वमें एकत्व देख पड़ता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेके बाद ही परम ज्ञानकी प्राप्ति होती है। अतएव जीवात्मा जैसे उत्तम, सुन्दर, सुभग आदि वस्तुके द्वारा उनका ज्ञान (अनुभव) प्राप्त करता है अर्थात् निश्चय करता है कि वे उत्तम, सुन्दर, सुभग आदि सत्त्वगुणके कारण हैं वैसा ही अशुभ, अमङ्गल और घृणितको प्रकृतिके निकृष्ट गुणका परिणाम जानता है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वकी जानकारी प्राप्तकर और आत्माकी दृष्टिसे दोनोंको अनात्म जान उनमेंसे किसीमें आसक्ति न रख केवल

शुद्ध आत्मामें स्थित रहता है। अतएव ज्ञानीके लिये अन्तर्दृष्टि-से न कुछ निकृष्ट है और न उत्तम है। उसकी दृष्टिमें सब उस एकके अंश हैं जो सृष्टिके निमित्त अपने-अपने स्थानमें अपना-अपना उद्देश्य साधन कर रहे और करवा रहे हैं। संसारमें जो कुछ है उन सबका अपना-अपना नियत स्थान और उद्देश्य है, अपनी-अपनी दशा है, अपने-अपने काम हैं और अपने-अपने लिये अनुभव प्राप्त कर रहे हैं और दूसरोंको करवा रहे हैं। ब्रह्म अनन्त है और उसके एक अंशका भी प्रकाश अनन्त प्रकारका होना चाहिये। अतएव श्रीकृष्ण भगवानने कहा 'द्यूतं छलयतामस्मि' मैं छलियोंमें जूआ हूँ। रुद्राध्यायमें लिखा है कि यह एक अनन्त ही सब प्रकारकी आवश्यक वृत्ति, नाना रूपको धारणकर सम्पादन कर रहा है। यहाँतक कि उस अनन्तको चोरोंका पति भी कहा जैसा कि 'तस्कराणां पतये नमः'। इसका यह भाव नहीं है कि जूआ अथवा चोरी उत्तम है किन्तु यह है कि जूआ, चोरी आदि निकृष्ट कर्मके अशुभ परिणामकी जानकारी पा उसके प्रति निवृत्त होना चाहिये और यही उनके अस्तित्वका उद्देश्य है।

ज्ञानी सब कर्मोंको करता हुआ भी अकर्त्ता है और सांसारिक पदार्थोंसे आवेष्टित रहनेपर भी उन सबोंसे वह न्यारा है, क्योंकि वह शरीरों और कोशोंसे अपनेको पृथक् आत्मा जानता है और सांसारिक पदार्थोंको उनके बाह्य आकृतिकी दृष्टिसे असत् जान उनमें कुछ भी आसक्ति नहीं रखता। महाभारत शान्तिपर्व अ० १७८ में राजा जनकका वचन है—

अनन्तं वत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते ॥

अनन्त धन मेरा कहा जाता है तथापि मेरे यथार्थमें कुछ नहीं है. यदि मिथिलाकी मेरी राजधानी जलने लगे, तथापि मेरा कुछ भी नहीं जलेगा। उपनिषद्का वचन है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।' निश्चय करके ये सब (एक) ब्रह्मही के रूप हैं-यहाँ कुछ भी नानात्व नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे प्रत्येक बन्धन टूट जाता, इच्छाएँ नाश हो जातीं और मनकी वृत्तियाँ स्थिर हो जाती हैं। ऐसा ज्ञानी शरीर और मनसे कर्मको करते भी यथार्थमें कुछ भी नहीं करता।

वाचनिक ज्ञान निःसार

स्मरण रखना चाहिये कि केवल वेदान्तकी पुस्तकोंके पढ़नेसे और तर्कद्वारा वेदान्तके सिद्धान्तोंको समझनेसे कोई ज्ञानी नहीं हो सकता, जैसा कि इसके पहिले भी कहा गया है। शास्त्र-पठन विवेकके लिये है। ज्ञानकी प्राप्ति तो ज्ञानयोगके अभ्यासद्वारा ही होती है। शास्त्रमें पाण्डित्य होनेसे विषयका बुद्धिद्वारा ज्ञान अवश्य होता है, किन्तु यह ज्ञान निकृष्ट है, इससे आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय ६ के ४६ वें श्लोकके भाष्यमें 'श्रीशंकराचार्यने भी इसका कथन किया है जैसा कि 'ज्ञानमत्र शास्त्रपाण्डित्यम्' अर्थात् यहाँ ज्ञानसे तात्पर्य शास्त्रमें पण्डिताईसे है।

आत्मज्ञानकी प्राप्ति बड़ी कठिन है। उपनिषद्में लिखा है कि—

अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् । नैषा तर्केण मतिरापनेया ॥
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

वह (आत्मा) निश्चय ही सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और सब तर्कोंसे परे है। यह (आत्मभाव) तर्कसे नहीं प्राप्त हो सकता। जिसने कुत्सित कर्मोंका करना नहीं छोड़ा, जिसकी इन्द्रियाँ वश न हुईं, जिसका मन एकाग्र न हुआ और जिसका चित्त शान्त न हुआ, ऐसा (पुरुष) केवल पुस्तकजनित ज्ञानके द्वारा आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।

साधनकी आवश्यकता

आत्माकी प्राप्ति कैसे हो, इस विषयमें उपनिषद्का ऐसा वचन है—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठ०)

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

(श्वेताश्वतर०)

तस्यास्तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। वेदाः सर्वाङ्गाणि, सत्यमायतनम्॥

(केन०)

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥
(मुण्डक०)

आत्मा कठिनतासे देखा जानेवाला है, गुप्त रीतिसे व्याप्त है, हृदयमें टिका हुआ है, गुहामें छिपा है और सनातन है, अध्यात्मयोगके ज्ञानद्वारा विद्वान् पुरुष परमात्माको जानकर, हर्ष और शोकका त्याग करता है। जैसे तेल तिलमें, घी दहीमें, जल झरनेमें और अग्नि काष्ठमें गुप्त रहती है, वैसे ही परमात्मा आत्मामें (है), (वह) उसके द्वारा पाया जाता है जो उसको सत्य और ध्यानद्वारा खोजता है। अभ्यास, दम और सदाचार उस (ज्ञान) के आश्रय हैं, वेद अङ्ग हैं और सत्य उसके रहनेका स्थान है। यह आत्मा केवल सत्य, ध्यान, सम्यक् ज्ञान और स्थायी शम-दमसे मिलता है, वह शरीरके भीतर ज्योतिःस्वरूप जाज्वल्यमान है जिसको यति लोग पापरहित होनेपर देखते हैं। वह (आत्मा) नेत्रसे, वाक्यसे, किसी दूसरी शक्तियोंसे और केवल ध्यान एवं उत्तम कर्मोंके द्वारा भी नहीं मिल सकता, शुद्धान्तःकरण होकर ज्ञान प्राप्त करनेहीपर (वह देखनेमें आता है,) इसके पूर्व नहीं। ध्यानद्वारा वह उसको अनवच्छिन्न देखता है।

वर्तमानमें ज्ञानकी दुरवस्था

किन्तु आजकल बहुत-से ऐसे हैं जो केवल वचनसे ज्ञानी हैं, जो सिद्धान्तके वाक्योंको कहा करेंगे किन्तु उनको आत्मा अथवा यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई। जो कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' किन्तु प्रत्येक वस्तुके संसर्ग और घटनासे क्षुभित होते हैं, जिनको शम-दमकी प्राप्ति नहीं हुई है, जो इन्द्रियोंके विषयोंको भोगना चाहते हैं और अपने कुत्सित स्वभावपर परदा देनेके लिये कहते हैं कि 'यह केवल शरीर चाहता है, मैं असङ्ग हूँ।' ऐसे पुरुष वस्तुतः भ्रममें पड़े हैं और जानकर अथवा अनजान मिथ्याचारी हो रहे हैं। यथार्थ ज्ञानी गुणोंका पराभवकर और आसक्तिको त्यागकर शरीरद्वारा विहित और कर्तव्य-कर्म करता है किन्तु उसके फलमें आसक्ति नहीं रखता और कदापि अविहित और अयुक्त (पाप) कर्म उसके द्वारा हो नहीं सकता। वह प्रकृतिके गुणोंको मालिककी भाँति सांसारिक कर्तव्यों-के साधनमें लगाता है किन्तु उनसे न वह बलात् प्रेरित हो सकता है और न क्षुभित ही हो सकता है। जो विषय-वासना-को रोक नहीं सकता और कहता है कि 'यह केवल शरीर है जो कर्म करता है, मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा पुरुष केवल वाचक-ज्ञानी है; यथार्थ ज्ञानी नहीं है। वह ज्ञानकी ओटमें किये अपने कुत्सित कर्मके कारण अवश्य अधोगतिको जायगा। ज्ञानी सेवककी भाँति गुणरूपी प्रभुद्वारा प्रेरित होकर कर्म नहीं करता, किन्तु स्वतः स्वच्छन्द और प्रभुकी तरह होकर गुणोंको शुद्ध और निग्रहकर, उनके द्वारा अपना कर्तव्य पालन करता है। शरीर और इन्द्रिय-

के अधीन होकर केवल वचनद्वारा ज्ञानमार्गका अनुसरण करना और ज्ञानकी बातोंको रटना किन्तु आचरण ज्ञानीके ऐसा न कर विरुद्ध करना—ऐसा करनेसे उस जीवात्माकी उन्नतिमें बहुत बड़ी बाधा पड़ती है और ऐसा आचरण ज्ञानके बदले अज्ञान और प्रमादका परिणाम है। आजकल साधन-चतुष्टयकी प्राप्तिके निमित्त यत्न न कर और निष्काम-कर्म और शम-दमसे विहीन रहनेपर भी लोग एकदम सीधे ज्ञानी होना चाहते हैं जो कलियुगकी मायाका प्रभाव है। किसीने कहा है कि 'कलौ वेदान्तिनः सर्वे फाल्गुणे बालका इव' कलियुगमें विशेषकर अधिक लोग वेदान्तवादी होंगे और फाल्गुण-मासके बालकोंके समान केवल व्यर्थ बका करेंगे। गोस्वामी तुलसी-दासकृत रामायणके उत्तरकाण्डमें कलियुगके विषयमें लिखा है—

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, करहिं न दूसरि बात।
कौड़िहुकारन मोह-बस, करहिं बिप्र-गुरु-घात॥

आजकल वेदान्तकी ओटमें कुत्सित आचरण किये जाते हैं, रागी अपनेको वैरागी समझते हैं जिससे अनेक प्रकार हानि हो रही है। पूर्वकालमें केवल ऐसे अधिकारीको योग्य आचार्य वेदान्तका उपदेश करते थे जिसकी इच्छाएँ और वासनाएँ नष्ट हो गयीं, मन और इन्द्रियाँ वश हो गयीं और जिसको पूर्ण वैराग्य प्राप्त हुआ। केवल ऐसे योग्य साधकको ही आचार्य वेदान्तका उपदेश करते थे और उपदेश प्राप्त होते ही कोई अपनेको ज्ञानी नहीं मान लेता था किन्तु अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये

अनेक कालतक वह ज्ञानयोगका अभ्यास करता था। ज्ञानी वही है जिसका आचरण भी ज्ञानीके सदृश है, जो सदा समान रहता है, व्यवहारमें भी अपने ज्ञानके अनुसार वर्तता है और जिसको आत्माका साक्षात्कार हो गया है। जो व्यवहार और आचरणमें अज्ञानीके ऐसे चलता और केवल उसका कथनमात्र ज्ञानीके सदृश है वह कदापि ज्ञानी नहीं है। ज्ञान-मार्ग भी अत्यन्त कठिन है और सब कोई इसके अनुसरण करनेयोग्य नहीं हैं। कठोपनिषद्का वचन है—

> क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
> दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

जैसे चोखे छुरेकी धारपर चलना कठिन है वैसे ही मनुष्यों-के लिये ज्ञानमार्गसे चलना अत्यन्त कठिन है, ऐसा ऋषिलोग कहते हैं। इसमें जो पहिले भृगुके ज्ञान प्राप्त करनेकी कथा लिखी गयी है उससे प्रकट होता है कि केवल पढ़ने और सुननेसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। साधनसम्पन्न होकर अनेक कालतक सिद्धान्तवाक्योंका विचार, मनन और निदिध्यासन करने और उसके अनुसार पवित्र और विहित आचरण करनेसे क्रमशः एक-एक सिद्धान्तका अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त होता है।

ज्ञानयोगकी सीमा

आवश्यक साधनसे सम्पन्न होकर ज्ञान-मार्गका ठीक-ठीक अनुसरण करनेसे और मनन-निदिध्यासनकी परिपक्वतासे साधक जीवात्मा (प्राज्ञ) जो कारण-शरीरमें है वहाँतक जाता है और वही इसका मुख्य लक्ष्य है जो पहिले भी कहा जा चुका

है। किसी-किसी ज्ञानीको केवल 'जीवात्मा' में यत्नरो नास्ति भाव रखनेसे और भक्तिद्वारा परमात्माकी ओर आगे बढ़नेका यत्न नहीं करनेसे आत्माभिमान हो जाता है जिसके कारण वे केवल अपनी ही मुक्ति चाहते, दूसरोंकी भलाई करनेमें प्रवृत्त नहीं होते। अतएव ऐसे ज्ञानीका भी कभी-न-कभी अवश्य पतन होता है। केवल ज्ञानी कारण-शरीर अथवा विज्ञानमय कोशसे ऊपर नहीं जा सकता। उससे ऊपर जाना केवल विशुद्ध बोधमयी भक्तिद्वारा ही सम्भव है। अतएव ज्ञान अन्तिम मार्ग नहीं है, किन्तु इसके परे भक्तिमार्ग है। इस ज्ञान-मार्गका मुख्य लक्ष्य केवल क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके ज्ञानको प्राप्त करना है जिसका वर्णन ऊपर किया गया, किन्तु यह ज्ञान उस ज्ञानसे भिन्न है जिसका वर्णन श्रीशङ्कराचार्यने अपने ग्रन्थोंमें किया है, जिसको विज्ञान कहते हैं, जो भक्तिकी प्राप्तिकर सद्गुरुके मिलनेपर ही उनके द्वारा राजविद्याकी दीक्षाके मिलनेसे प्राप्त होता है। दीक्षाओंका वर्णन प्रकरणान्तरमें होगा।

अन्तिम लक्ष्य राजविद्या अर्थात् परा-भक्ति

श्रीमद्भगवद्गीताने अध्याय ६ में इस विज्ञानको 'राजविद्या' कहा है और श्रीभगवान्ने उक्त राजविद्या यथार्थमें क्या है? यह न बताकर उपदेश दिया कि—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४।३४)

हे अर्जुन! तत्त्वको प्रत्यक्ष देखनेवाले विज्ञानी जन, प्रणिपात अर्थात् आत्मसमर्पण करनेसे, परिप्रश्न अर्थात् निरन्तर उत्कट आत्म-प्राप्तिकी अभिलाषा रखनेसे और सेवा अर्थात् उनके प्रीतिकारी कर्मके करनेसे, तुझको यह ज्ञान प्रदान करेंगे, ऐसा जान। अध्याय ९ में राजविद्याके सम्बन्धमें श्रीभगवान्ने कहा कि—

> महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
> भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

हे पार्थ! महात्मा लोग दैवी प्रकृतिका आश्रय करके अनन्य-चित्त होकर मुझको सारे प्राणियोंके मूल और अविनाशी जानकर भजते हैं। राजविद्याकी प्राप्ति दैवी प्रकृति (परा-विद्या-शक्ति) और उसमें स्थित महात्मा (सद्गुरु) के साथ सम्बन्ध होनेसे ही प्राप्त होती है और इसमें श्रीभगवान्की भक्तिका साहाय्य मुख्य है, यह इस श्लोकसे प्रकट हुआ। यह दैवी प्रकृति श्रीभगवान्की ज्ञानमयी प्रकाश और शक्ति है और श्रीभगवान्की इच्छाकी पूर्ति करना ही इसका उद्देश्य है। इसीके द्वारा अविद्याका नाश होता है। इस कारण इसकी कृपा उसीपर होती है जो स्वयं श्रीभगवान्की सेवा और उपासनामें भक्तिभावसे प्रवृत्त रहता है। श्रीमद्भगवद्गीताका वचन है—

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
> (१०।१०)

उन निरन्तर मेरे ध्यानमें संलग्न हुए और प्रेमसे भजनेवाले भक्तोंको मैं बुद्धियोग अर्थात् तत्त्व-ज्ञानरूप योग देता हूँ, कि जिसके द्वारा वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।

शास्त्र... पढ़नेसे केवल विवेक होता है और साधन-चतुष्टयके प्राप्त होनेपर योग्य आचार्यद्वारा सिद्धान्त श्रवणकर उसका मनन-निदिध्यासन करनेसे जो ज्ञान होता है उसके द्वारा कारण-शरीरमें जो 'प्राज्ञ' है वहाँतक साधक जा सकता है यदि उपयुक्त साधना और पुरुषार्थ किये जायँ। किन्तु आजकल क्रमसे साधना नहीं की जानेके कारण और ज्ञानमार्गको सुलभ समझनेके कारण यह अवस्था भी विरले ही लोगोंको प्राप्त होती है। साधारण शास्त्र-ज्ञानी प्राज्ञतक भी नहीं जाते, केवल स्थूल-शरीरमें ही अटके रहते हैं। प्राज्ञसे ऊपर श्रीभगवान्की प्राप्ति केवल भक्तिद्वारा श्रीसद्गुरुके मिलनेपर उनकी दी हुई राजविद्याकी दीक्षासे ही होती है, जिस अवस्थाको कोई विज्ञान, कोई परमबोध और कोई पराभक्ति कहते हैं।

जिस ज्ञानीमें समबुद्धि होती है, स... भूतोंके प्रति आत्मदृष्टिसे दया रहती और उनकी भलाई करनेमें निष्काम-भावसे प्रवृत्त होता उसीको भक्तिकी प्राप्ति होती है और वह भक्ति प्राप्तकर श्रीपरमात्मा-को लब्ध करता है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानके बाद ही उच्च भक्तिकी प्राप्ति होती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

'जो सब इन्द्रियोंको वश करके सब प्राणियोंके प्रति समदृष्टि रखते और सब भूतोंके हित करनेमें प्रसन्न रहते, ऐसे ही पुरुष मुझको प्राप्त करते हैं। जो ब्रह्ममें स्थित होकर प्रसन्न रहता, न शोच करता और न इच्छा करता है, सब भूतोंमें समान दृष्टि रखता है, वह मेरी परा-भक्ति प्राप्त करता है। भक्तिसे वह यथार्थ अपरोक्षभावसे जानता है कि मैं क्या और कौन हूँ और मेरा अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त करके वह शीघ्र मुझमें प्रवेश करता है।' जो ज्ञानी पर-हित-निरत नहीं हैं केवल अपनी मुक्ति चाहते हैं, वे अनेक कालतक साधारण मुक्तिकी-सी अवस्थामें क्यों न रहें, अन्तमें उनको भक्तिकी प्राप्ति-निमित्त फिर जन्म लेना पड़ेगा, क्योंकि जबतक भक्तिद्वारा साधक ईश्वरके आदि-संकल्पकी पूर्ति नहीं करता जो अपनेमें उनके दिव्य गुण, सामर्थ्य, विभूति आदिको उनकी सेवामें प्रयोजित होनेके निमित्त प्रकाशित करना है तबतक न श्रीपरमात्माकी प्राप्ति होती और न यथार्थ शान्ति मिलती है। केवल ज्ञानसे एक मन्वन्तरतकके लिये जन्म-मरणसे छुटकारा मिल जाता है किन्तु उसके बाद पुनरागमन होता है। तबतक मुक्ति नहीं लेनी चाहिये जबतक श्रीपरमात्मा प्रकाश-भाव (सगुणरूप) में रहकर विश्वके पालन-पोषणमें प्रवृत्त हैं—यही ज्ञान और भक्तिकी एकता है और उसीके द्वारा साधक सिद्ध होता है।

उपासनाकी परमावश्यकता

उपनिषद्का वचन है—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।

तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥५॥
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥
(श्वेता० ६)

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२०॥
(कठ० १ अ० २ व० २० मं०)

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
(मुण्डक०)

यह आदि-कारणकी तरह मालूम पड़ता है। उसीद्वारा एकता प्राप्त होती है, त्रिकालसे परे है, वह कालसे ही परे है, किन्तु (एकता तभी प्राप्त होती है) जब उस विश्वरूप ईश्वरकी उपास्य--भक्ति स्वाभाविक रूपसे की जाती है और जिसको अपने चित्तमें स्थित करना चाहिये। मैं मुमुक्षुभावसे उस ईश्वरके शरणमें जाता हूँ जो आत्म-ज्ञानका प्रकाश करनेवाला है। छोटे-से-छोटा (तो भी) बड़े-से-बड़ा, इस जन्तुके हृदयमें आत्मा रहता है, इच्छारहित होकर और विगतशोक होकर उसको वह देखता है—ईश्वरके अनुग्रहसे आत्माके महत्वको (देखता है)। ॐ धनु है, आत्मा शर है और ब्रह्म निशाना मारनेका लक्ष्य है, केवल एकचित्त होनेसे यह वेधा जा सकता

है। जैसे शर लक्ष्यके साथ युक्त हो जाता है वैसे ही उस ब्रह्मके साथ एक हो जाना चाहिये। हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती, सब संशय नाश हो जाते, कर्म भी नाश हो जाते (फलद्वारा बद्ध नहीं कर सकते) जब कि एक बार भी आत्मा परमात्माको देख लेता है।

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका वचन है—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई। जिमि खगेस! जलकी चिकनाई॥
बिमल ज्ञान जल पाइ अन्हाई। तब रहु रामभक्ति उर छाई॥

ब्रह्म पयोनिधि मन्दर, ज्ञान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़ईं, भक्ति-मधुरता जाहि॥
बिरति चर्म असि ज्ञानमद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाई सोइ हरिभगति, देखु खगेस! बिचारि॥

भक्ति-योग क्या है? भक्तिकी कौन साधना और लक्षण है, राजविद्याकी दीक्षा और उसके दीक्षादाता सद्गुरु कौन हैं? ये सब अगले प्रकरणमें दर्शित किये जायँगे।

ज्ञान और भक्ति

श्रीमद्भगवद्गीता वेदान्तके प्रस्थानत्रयमें अन्तिम प्रस्थान होनेके कारण पूर्वके दो प्रस्थानोंकी अपूर्णताकी इसमें पूर्ति की गयी है जिसके कारण यह सब अंशोंमें परिपूर्ण है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनन्य भक्तिको ही अपनी प्राप्तिका एकमात्र साक्षात् साधन बतलाया है (भक्त्या त्वनन्यया शक्यः ११।५४) और वेद अर्थात् ज्ञानको भी अपर्याप्त कहा है। (११।४३) गीताके दशवें (राजविद्या) अध्यायके अन्तिम श्लोक ३४, ११ वें अध्यायके अन्तिम श्लोक ५५, १२ वें अध्यायके श्लोक ६ और ७ और

१८ वें अध्यायके अन्तिम उपदेशके अन्तिम दो श्लोक ६५ और ६६ में श्रीभगवानने यह स्पष्ट कर दिया कि मेरी प्राप्ति केवल भक्तिद्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। ज्ञानके अभ्याससे भगवत्प्रेमकी उत्पत्ति होती है और प्रेमके कारण निष्काम भगवत्सेवासे यथार्थ भक्तिकी प्राप्ति होती है। बृहदारण्यकउपनिषद् का वचन है—'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात्' श्रीभगवान् पुत्रसे अधिक प्रिय, धनसे अधिक प्रिय और सब दूसरी वस्तुओंसे अधिक प्रिय हैं। ज्ञान और दैवी सम्पत्तिके सद्गुणकी पूर्ण प्राप्ति भक्तियोगके अभ्याससे ही होती है। भक्तियोग क्या है? भक्तिकी क्या साधना और स्वरूप है? राजविद्या अर्थात् परा-भक्तिकी दीक्षा क्या है और उसके सद्गुरु कौन हैं? इत्यादि विषय अगले प्रकरणमें प्रकाशित किये जायँगे।

चित्रका विवरण

ॐ परब्रह्म–अर्द्धमात्रा–निर्विशेष, अखण्ड, परम सर्वकारण, सर्वाधार, अज्ञात, अज्ञेय।

(१) महेश्वर, परमेश्वर–प्रणवका तीसरा अक्षर 'म'। ३–सृष्टिका केन्द्र-सृष्टयोन्मुख शक्ति-सम्पन्न परब्रह्मकी महिमा-अज्ञात किन्तु पराभक्तिसे ज्ञेय।

(२) दैवी-प्रकृति–प्रणवका दूसरा अक्षर उ। २—महेश्वरकी परा-प्रकृति, महाविद्या-शक्ति, महाचैतन्य शक्ति-गायत्री, स्वच्छ विन्दुका ऊर्ध्व-मुख त्रिकोण श्रीपरमेश्वरके दक्षिणभागमें स्थित अपने आश्रित जीवात्माको उसके तमको अपने प्रकाशसे नष्टकर महेश्वरमें युक्त करती है।

(३) मूल-प्रकृति—प्रणवका प्रथम अक्षर 'अ'। १—त्रिगुणात्मिका-सम्पूर्ण दृश्यका परम कारण-वाम-भागमें स्थित। अन्धकार-रेखाका अधोमुख त्रिकोण। उनके साथ कामात्मक-भावसे योग करनेसे अधःपतन करनेवाली किन्तु निग्रहद्वारा संघर्षण होनेसे दैवी प्रकृतिकी दिव्य विद्या-शक्तिका उद्भव करनेवाली जिससे इसके तमका नाश होता है।

(४) सूत्रात्मा—महद्ब्रह्म—समष्टि-चेतन प्रजापति जिनका संकल्प ब्रह्माण्डके सप्तलोकका आधार है।

(५) हिरण्य-गर्भ-भुवर्लोकका समष्टि-चेतन पुरुष, यह नानात्वका कारण है।

(६) विश्वानर—भूलोकका समष्टि-चेतन विराट् पुरुष—समस्त स्थूल उपाधिका कर्ता-धर्ता और पालनकर्ता।

(७) विश्व—समष्टि-चेतन विश्वानरका व्यष्टि-चेतन स्थूल-शरीरमें।

(८) तैजस—समष्टि-चेतन हिरण्यगर्भका व्यष्टि-चेतन-सूक्ष्म-शरीरमें।

(९) प्राज्ञ—समष्टि-चेतन सूत्रात्माका व्यष्टि-चेतन कारण-शरीरमें।

दृश्य-मूल-प्रकृतिके सात विभाग भूलोकसे सत्यलोकतक समष्टि-भूलोककी प्रकृतिसे मनुष्यका व्यष्टि स्थूल-शरीर, समष्टि-भुवर्लोकसे व्यष्टि-सूक्ष्म-शरीर और समष्टि-स्वर्गलोक और उसके ऊपरके लोकसे व्यष्टि-कारण-शरीर बने।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

प्राचीन सद्ग्रन्थ

श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीशांकरभाष्यका मूलसहित सरल हिन्दी-अनुवाद (सचित्र) शब्द-सूचीसहित २॥) पक्की जिल्द ... २॥।)

विवेक-चूडामणि—सानुवाद (सचित्र) ।≡) सजिल्द ॥=)

प्रबोध-सुधाकर—सानुवाद (सचित्र) ≡)॥

अपरोक्षानुभूति सानुवाद (स०) =)॥

प्रश्नोत्तरी—भाषासहित)॥

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध सानुवाद (सचित्र) ॥।) सजिल्द १)

मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित -)॥

विष्णुसहस्रनाम)॥।

सन्ध्या—हिन्दी-विधिसहित)॥

बलिवैश्वदेवविधि)॥

पातञ्जलयोगदर्शन (मूल))।

श्रीमद्भगवद्गीता सटीक (बड़ी) १।)

" " मझली ॥≡)

" " साधारण ॥)

" " छोटी =)॥

" मूल मोटे अक्षर ।-)

" मूल विष्णुसहस्रनाम-सहित ≤)

" केवल भाषा ।)

" केवल दो पन्नेमें -)

श्रीकृष्ण-विज्ञान (गीताका मूल-सहित पद्यानुवाद) १) सजिल्द १।)

भक्तोंके चरित्र

भागवतरत्न प्रह्लाद, (८ चित्र ३४० पृष्ठ) मू० ...१) स० ...१।)

देवर्षि नारद (५ चित्र,२३४पृष्ठ) ॥।)

भक्त-भारती (७ चित्र) मू० ।≡)

भक्त-बालक (५ चित्र) मू० ।-)

भक्त-नारी (६ चित्र) मू० ।-)

भक्त-पञ्चरत्न (५ चित्र) मू० ।-)

एक सन्तका अनुभव -)

श्रीचैतन्य-चरितावली खं० १ ॥।=)

भक्तिपूर्ण भाषा-ग्रन्थ

प्रेम-योग (वियोगी हरि) १।) १॥)

गीतामें भक्ति-योग (") ।-)

भजन-संग्रह (तीनों भाग) ।≤)

प्रेम-भक्ति-प्रकाश -)

पत्र-पुष्प ≡)॥

मानव-धर्म ≦)

साधन-पथ =)॥

आनन्दकी लहरें -)॥

मनको वशमें करनेके उपाय -)।

गीता-निबन्धावली ≡)॥

श्रुतिकी टेर ।)

वेदान्त-छन्दावली ≤)॥

चित्रकूटकी झाँकी =)

सेवाके मन्त्र)॥

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

परमार्थ-ग्रन्थमालाकी सात मणियाँ

तत्त्व-चिन्तामणि–लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका मू० ॥।-) स० १)···पुस्तकमें धर्मका भाव बड़ा जागरूक है, प्रत्येक पृष्ठसे सचाई और सात्त्विकी श्रद्धा प्रकट होती है। ···लेख तो अमृतरूप हैं (माधुरी)

मानव-धर्म-धर्मके दश प्रकारके भेद बड़ी सरल सुबोध भाषामें उदाहरणों सहित समझाये गये हैं। मू० ≡)

साधन-पथ–इसमें साधन-पथके विघ्नों,उनके निवारणके उपायों तथा सहायक साधनोंका विस्तृत वर्णन किया गया है। पृष्ठ ७२ मू० =)॥

तुलसी-दल–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ सुन्दर लेखोंका संग्रह, भगवान्‌का एक सुन्दर चित्र भी है। पृ० २६४, मू० अजिल्द ॥) सजिल्द ॥≡)

माता–श्रीअरविन्द घोषकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother) का हिन्दी-अनुवाद, मू० ।)

परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ कल्याणकारी पत्रोंका संग्रह मू० ।)

नैवेद्य–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार-के कुछ और चुने हुए लेखोंका सचित्र संग्रह। मूल्य ॥=) स० ॥।-)

कवितामय पुस्तकें

प्रेम-योग–ले०श्रीवियोगी हरिजी प्रेमपर अद्भुत ग्रन्थ,१।)स०१॥)

श्रीकृष्ण-विज्ञान–श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद (सचित्र) मू० १)सजिल्द १।)

विनय-पत्रिका–श्रीतुलसीदास-जी कृत, मूल भजन और हिन्दी-भावार्थ-सहित, ६ चित्र, मूल्य १) सजिल्द १।)

भक्त-भारती–सात चित्रोंसहित सात भक्तोंकी सरस कथाएँ मूल्य ।≡) सजिल्द ॥=)

श्रुतिकी टेर (सचित्र)	···	।)
पत्र-पुष्प (सचित्र)	···	≡)॥
वेदान्त-छन्दावली (सचित्र)	·	=)॥
मनन-माला (सचित्र)		=)॥
भजन-संग्रह प्रथम भाग	···	=)
" द्वितीय भाग	···	=)
" तृतीय भाग	···	=)
हरेरामभजन दो माला	···	)॥।
सीतारामभजन	···	)॥
श्रीहरि-संकीर्तन-धुन	···	)।
गजलगीता		आधा पैसा

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर